॥ श्रीहरिः ॥
421▲
जिन खोजा तिन पाइया
गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR
स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

जिन खोजा तिन पाइया

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुका तो निर्माण होता है, पर अनुत्पन्न तथा अविनाशी तत्त्वका निर्माण नहीं होता, प्रत्युत खोज होती है। उसकी खोजके लिये गहरा उतरकर विचार करना आवश्यक है; क्योंकि 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ'। अत: ऐसे ही विचारपूर्ण लेखोंका यह संग्रह तत्त्वान्वेषी जिज्ञासुओंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, परम श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजकी अन्य पुस्तकोंकी भाँति इस पुस्तकको भी जिज्ञासुजन पसन्द करेंगे और इसका अध्ययन-मनन करके लाभ उठायेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

१. जिन खोजा तिन पाइया

परमात्मतत्त्व अद्वितीय है। उपनिषद्‌में आया है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छान्दोग्य० ६। २। १)

'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था'।

तात्पर्य है कि वह तत्त्व अद्वैत है। उस तत्त्वमें किसी भी तरहका भेद नहीं है। भेद तीन तरहका होता है—स्वगत भेद, सजातीय भेद और विजातीय भेद। जैसे, एक शरीरमें भी पैर अलग हैं, हाथ अलग हैं, पेट अलग है, सिर अलग है—यह 'स्वगत भेद' है। वृक्ष-वृक्षमें कई भेद हैं, गाय-गायमें अनेक भेद हैं—यह 'सजातीय भेद' है। वृक्ष अलग हैं और गाय, भैंस, भेड़ आदि पशु अलग हैं—यह स्थावर और जंगमका भेद 'विजातीय भेद' है। परमात्मतत्त्व ऐसा है कि उसमें न स्वगत भेद है, न सजातीय भेद है और न विजातीय भेद है। परमात्मतत्त्वमें कोई अवयव नहीं है, इसलिये उसमें 'स्वगत भेद' नहीं है। जीव भिन्न-भिन्न होनेपर भी स्वरूपसे एक ही हैं; अतः उसमें 'सजातीय भेद' भी नहीं है। उस तत्त्वके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, इसलिये उसमें 'विजातीय भेद' भी नहीं है। वह परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे एक ही है।

जैसे, समुद्रमें तरंगें उठती हैं, बुद्‌बुद पैदा होते हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर यह सब-का-सब जल ही है। इस जलसे भाप निकलती है। वह भाप बादल बन जाती है। बादलोंसे फिर वर्षा होती है। कभी ओले बरसते हैं। वर्षाका जल बह करके सरोवर, नदी-नालेमें चला जाता है। नदी समुद्रमें मिल जाती है। इस प्रकार

एक ही जल कभी समुद्ररूपसे, कभी भापरूपसे, कभी बादलरूपसे, कभी बूँदरूपसे, कभी ओलारूपसे, कभी नदीरूपसे और कभी आकाशमें परमाणुरूपसे हो जाता है। समुद्र, भाप, बादल, वर्षा, बर्फ, नदी आदिमें तो फर्क दीखता है, पर जल-तत्त्वमें कोई फर्क नहीं है। केवल जल-तत्त्वको ही देखें तो उसमें न समुद्र है, न भाप है, न बूँदें हैं, न ओले हैं, न नदी है, न तालाब है। ये सब जलकी अलग-अलग उपाधियाँ हैं। तत्त्वसे एक जलके सिवाय कुछ भी नहीं है। इसी तरह सोनेके अनेक गहने होते हैं। उनका अलग-अलग उपयोग, माप-तौल, मूल्य, आकार आदि होते हैं। परन्तु तत्त्वसे देखें तो सब सोना-ही-सोना है। पहले भी सोना था, अन्तमें भी सोना रहेगा और बीचमें अनेक रूपसे दीखनेपर भी सोना ही है। मिट्टीसे घड़ा, हाँडी, ढक्कन, सकोरा आदि कई चीजें बनती हैं। उन चीजोंका अलग-अलग नाम, रूप, उपयोग आदि होता है। परन्तु तत्त्वसे देखें तो उनमें एक मिट्टीके सिवाय कुछ भी नहीं है। पहले भी मिट्टी थी, अन्तमें भी मिट्टी रहेगी और बीचमें अनेक रूपसे दीखनेपर भी मिट्टी ही है। इसी प्रकार पहले भी परमात्मा थे, बादमें भी परमात्मा रहेंगे और बीचमें संसाररूपसे अनेक दीखनेपर भी तत्त्वसे परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

यह संसार दीखता है, इसमें अलग-अलग शरीर हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं। कोई स्थिर रहनेवाला (स्थावर) शरीर है, कोई चलने-फिरनेवाला (जंगम) शरीर है। स्थिर रहनेवालोंमें कोई पीपलका वृक्ष है, कोई नीमका वृक्ष है, कोई आमका वृक्ष है, कोई करीलका वृक्ष है। तरह-तरहके पौधे हैं, घास हैं। चलने-फिरनेवालोंमें कई तरहके पशु-पक्षी, मनुष्य आदि हैं। ये सभी पृथ्वीपर हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत हैं। इनसे आगे समष्टि अहंकार है। फिर महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) है।

महत्तत्त्वके बाद फिर मूल प्रकृति है। ये सब मिलकर संसार हैं। संसारके आदिमें भी परमात्मा हैं, अन्तमें भी परमात्मा हैं और बीचमें अनेक रूपसे दीखते हुए भी तत्त्वसे परमात्मा ही हैं।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

देखने, सुनने और चिन्तन करनेमें जितना संसार आता है, वह मोहमूल ही है; क्योंकि उसकी वास्तविक और स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस २।९२।४)

संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा, केवल बीचमें बना हुआ दीखता है। बनी हुई (बनावटी) चीज निरन्तर मिट रही है और स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। वह एक परमात्मतत्त्व ही अनेक रूपोंसे दीखता है।

परमात्मतत्त्व एक होते हुए भी अनेक रूपोंसे दीखता है और अनेक रूपोंसे दीखनेपर भी स्वरूपसे एक ही रहता है। कारण कि वह एक ही था, एक ही है और एक ही रहेगा। वह एक रूपसे दीखे तो भी वही है और अनेक रूपसे दीखे तो भी वही है। जलसे बने भाप, बादल, बर्फ आदि सब जल ही है, सोनेसे बने गहने सोना ही है, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टी ही है। इसी तरह जो अनेक रूपोंमें एक

परमात्मतत्त्वको ही देखता है, वही तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, ज्ञानी-महात्मा होता है। कारण कि उसको यथार्थ ज्ञान हो गया, उसने परमात्माको तत्त्वसे जान लिया। तत्त्वसे जानते ही वह परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है—'**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**' (गीता १८।५५)। फिर एक तत्त्व ही शेष रह जाता है।

परमात्मतत्त्व पहले एक था, पीछे एक रहेगा और अभी अनेक रूपोंसे दीखता है—ये तीनों बातें काल (भूत, भविष्य और वर्तमान)-को लेकर हैं। परन्तु उस तत्त्वमें काल है ही नहीं। इसी तरह वहाँ न देश है, न क्रिया है, न वस्तु है, न व्यक्ति है, न घटना है, न परिस्थिति है, न अवस्था है। केवल एक अद्वैत तत्त्व है।

प्रश्न—परमात्मतत्त्वका स्वरूप क्या है?

उत्तर—परमात्मतत्त्वका स्वरूप है—सत्तामात्र। वह सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितिमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें 'है'-(सत्ता) रूपसे विद्यमान है। उस चिन्मय, ज्ञानस्वरूप सत्तामें मैं, तू, यह, वहका भेद नहीं है। वह इन सबसे अतीत तत्त्व है। ये सब तो उसके भीतर की गयी कल्पनाएँ हैं। जैसे आकाशमें बादल हैं, समुद्रमें लहरें हैं, मनमें मनोराज्य है, स्वप्नद्रष्टामें स्वप्न है, ऐसे ही परमात्मतत्त्वमें देश, काल, वस्तु आदिकी प्रतीति है। वह तत्त्व सम्पूर्ण प्रतीतियोंका आश्रय, आधार और प्रकाशक है। उसके अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते रहते हैं, पर वह ज्यों-का-त्यों रहता है।

जब हम प्रतीतिको सत्ता देते हैं, तब यह कहते हैं कि परमात्मतत्त्व प्रतीतिका आश्रय, आधार और प्रकाशक है। जब सर्वत्रको सत्ता देते हैं, तब यह कहते हैं कि परमात्मतत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है। जब हम 'नहीं' की सत्ता मानते हैं, तब यह कहते

हैं कि परमात्मतत्त्व 'है'-रूपसे विद्यमान है। असत्‌की सत्ता माननेपर ही परमात्मतत्त्वको सत् कहते हैं। यदि असत्‌की सत्ता न मानें तो परमात्मतत्त्वको सत् कहना बनता ही नहीं! जैसे, हमारे यहाँ रात और दिन दो होते हैं; परन्तु सूर्यमें न रात होती है, न दिन होता है। वहाँ तो दिन-ही-दिन है, पर रात न होनेसे उसका नाम दिन नहीं है। दिन नाम रातकी अपेक्षासे होता है। रात नहीं है तो दिन कैसे?

राम सच्चिदानंद दिनेसा।
नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥

(मानस १।११६।३)

भगवान् 'दिनेश' (दिनके स्वामी) हैं—ऐसा तभी कहना पड़ता है, जब दिनकी सत्ता मानते हैं। वहाँ लवलेशमात्र भी मोह-निशा नहीं है—ऐसा तभी कहना पड़ता है, जब निशाकी सत्ता मानते हैं। वहाँ दिन और निशा कहना बनता ही नहीं। ऐसा कहना वहीं बनता है, जहाँ द्वैत हो। '**नोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।**' अर्थात् शंका-समाधान द्वैतभाषासे ही होता है। तात्पर्य है कि दूसरेकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि होता है।

योगवासिष्ठमें रामजी और वसिष्ठजीका संवाद आता है। रामजीने वसिष्ठजीसे पूछा कि महाराज! आप जिस ब्रह्मकी बात कहते हैं, वह ब्रह्म क्या है, कैसा है? यह सुनकर वसिष्ठजी चुप हो गये। थोड़ी देरके बाद रामजीने फिर कहा कि महाराज! उस ब्रह्मका वर्णन कीजिये। वसिष्ठजीने कहा कि मैंने उसका वर्णन कर दिया! तात्पर्य है कि मौन ही उस ब्रह्मका वर्णन है। वहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन नहीं है, बुद्धि नहीं है, प्रश्न नहीं है, उत्तर नहीं है, शब्द नहीं है, अर्थ नहीं है, कुछ नहीं है, केवल मौन

है। मौन ही गुरुका व्याख्यान है, जिससे शिष्योंके सब सन्देह मिट जाते हैं—'**गुरोस्तु मौनमाख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः**'।

उपनिषद्में शिष्य अपने गुरुके प्रति कहता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

(केन० २।२)

अहम्— मैं
सुवेद—तत्त्वको भलीभाँति जान गया हूँ—
इति न मन्ये—ऐसा मैं नहीं मानता (और)
नो इति—न ऐसा ही मानता हूँ कि
न वेद—मैं तत्त्वको नहीं जानता; (क्योंकि)
वेद च—जानता भी हूँ।
वेद—मैं तत्त्वको जानता हूँ (अथवा)
न वेद—नहीं जानता हूँ—
च इति नो—ऐसा सन्देह भी नहीं है।
नः—हमारेमेंसे
यः—जो कोई भी
तत्—उस तत्त्वको
वेद—जानता है,
तत्—वही मेरे उक्त वचनके तात्पर्यको
वेद—जानता है (कि यह अहंरहित सहजावस्था है)।

तात्पर्य है कि उस परमात्मतत्त्वमें मन, बुद्धि, वाणी आदिकी कोई गति नहीं होती—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीय० २।९)

'मनसहित वाणी आदि सब इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं।'

'मन समेत जेहि जान न बानी'

(मानस १।३४१।४)

उस परमात्मतत्त्वका अनुभव उत्पन्न नहीं होता। यदि अनुभव उत्पन्न होगा तो वह मिट जायगा। परमात्मतत्त्व तो अनुभवस्वरूप ही है। केवल उसकी तरफ दृष्टि जाती है। दृष्टि जानेसे हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सब संशय मिट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥*

(मुण्डक० २। २। ८)

'मैं हूँ'—यह हृदय-ग्रन्थि है। 'है' की तरफ दृष्टि हो जानेसे न 'मैं' रहता है और न 'हूँ' रहता है अर्थात् हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। परमात्मतत्त्व क्या है, कैसा है, कौन है—ये सन्देह नहीं रहते। संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मोंका क्षय हो जाता है। परमात्मतत्त्व पर (प्रकृति)-से भी पर है। सबसे पर (प्रकृति) भी जहाँ अवर (तुच्छ) हो जाती है अर्थात् वहाँतक नहीं पहुँच सकती, उस परावर (पर-से-पर) परमात्मतत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है? ऐसे परमात्मतत्त्वकी तरफ लक्ष्य होनेपर वह ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

परमात्मतत्त्वके लिये कुछ भी कहें, सुनें, पढ़ें, विचार करें, चिन्तन करें, वह दूसरेकी कुछ-न-कुछ सत्ता माननेसे ही होगा। वास्तवमें उसका वर्णन, विचार, चिन्तन, संकेत आदि कुछ भी नहीं हो सकता। किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, नाम, रूप आदिकी कुछ-न-कुछ कल्पना करके ही उसका वर्णन हो सकता है। ऐसा वह स्वतःसिद्ध चिन्मय तत्त्व है। उसका स्वरूप सत्तामात्र है, जिसकी किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिके साथ कभी किंचिन्मात्र भी लिप्तता है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं।

---

* क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ (श्रीमद्भा० १।२।२१)
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ (श्रीमद्भा० ११।२०।३०)

प्रश्न—उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—परमात्मतत्त्व किसी देश, काल आदिमें बँधा हुआ नहीं है। वह सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सब अवस्थाओंमें विद्यमान है और इन सबसे अतीत भी है। जो सबमें विद्यमान है, वह हमारेमें भी विद्यमान है और जो सब समयमें विद्यमान है, वह अभी भी विद्यमान है। अगर वह हमारेमें नहीं है तो उसको सबमें विद्यमान नहीं कह सकते। अगर वह अभी नहीं है तो उसको सब समयमें विद्यमान नहीं कह सकते। जो हमारेमें है और अभी है, उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रमकी जरूरत नहीं है। परिश्रम तो उसकी प्राप्तिमें होता है, जो देश, काल, वस्तु आदिसे कुछ दूर हो। अतः हम परिश्रम करेंगे, उद्योग करेंगे, पुरुषार्थ करेंगे, क्रिया करेंगे, तब उस तत्त्वकी प्राप्ति होगी—ऐसी बात नहीं है। क्रिया करनेसे तो हम उससे दूर होंगे; क्योंकि क्रिया प्रकृतिमें होती है और प्रकृति सत् नहीं है। प्रकृतिसे तो हमारा निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती। परन्तु सत्-तत्त्वसे किसीका भी सम्बन्ध-विच्छेद कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं और है नहीं। फिर उसके लिये किसी परिश्रमकी क्या आवश्यकता है? इसलिये शास्त्रमें आया है—'**सन्मात्रं सुगमं नृणाम्**' अर्थात् सत्तामात्रकी प्राप्ति मनुष्योंके लिये बहुत सुगम है। वास्तवमें उसकी प्राप्तिको सुगम कहना भी नहीं बनता। सुगमता-कठिनता तो अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिमें होती है। जो नित्यप्राप्त है, उसके लिये क्या सुगमता और क्या कठिनता? जैसे—'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका अनुभव सभीको है। वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदिके अभावका अनुभव सबको होता

है, पर स्वयंके अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता, प्रत्युत सबको सदा ही अपने भावका अनुभव होता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' को आदर न देकर 'हूँ' को अर्थात् निर्विकार नित्य सत्ताको आदर दे। 'हूँ' को आदर देनेसे 'मैं' (अहम्) मिट जायगा और 'है' रह जायगा।

अपनी सत्ता (होनापन) सत् है और मैं-पन (अहंकार) असत् है। असत्का त्याग करनेसे सत्का संग अर्थात् सत्में प्रेम होता है, सत्का साक्षात्कार होता है, सत्में निष्ठा होती है, सत्में स्थिति होती है। वास्तवमें असत् निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। जो निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है, उसका ही त्याग करना है अर्थात् उसीसे विमुख होना है। शरीर निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है, प्राण निरन्तर हमारा त्याग कर रहे हैं, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ निरन्तर हमारा त्याग कर रही हैं। हम निरन्तर जी रहे हैं—यह तो वहम है, पर हम निरन्तर मर रहे हैं—यह सच्ची बात है। शरीर निरन्तर हमारेसे अलग हो रहा है—यही उसका निरन्तर मरना है। हम स्वयं ज्यों-के-त्यों हैं। स्वयंकी जो सत्ता बचपनमें थी, वही आज भी है। परन्तु शरीर जो बचपनमें था, वही आज है—ऐसा हम नहीं कह सकते। शरीर वह नहीं है, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ वे नहीं हैं, भाव वे नहीं हैं, सिद्धान्त वे नहीं हैं, सामग्री वह नहीं है, साथी वे नहीं हैं, देश (स्थान) वह नहीं है, काल वह नहीं है, अवस्था वह नहीं है, परिस्थिति वह नहीं है; परन्तु मैं स्वयं वही हूँ जो पहले था। 'मैं वही हूँ'—इसमें स्थिति होनेका नाम ही तत्त्वकी प्राप्ति है। इसीको जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार कहते हैं। यही असली सत्संग है। इसका उपाय यह है कि जब सुषुप्तिसे जाग्रत्में आयें अर्थात् नींदसे जग जायँ, तब अपने बिछौनेपर ही सुखपूर्वक बैठ जायँ और जाग्रत्में सुषुप्तिका अनुभव करें। तात्पर्य है कि जैसे सुषुप्तिमें कुछ भी याद

नहीं था, अहम् भी याद नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्‌में भी अहम्‌की याद न रहे अर्थात् अहम्‌की उपेक्षा कर दें।

अहम् नहीं है—इसमें 'नहीं' भी अहम् है और 'है' भी अहम् है। कारण कि 'नहीं' की अपेक्षा 'है' और 'है' की अपेक्षा 'नहीं' है। तत्त्वमें 'नहीं' और 'है' दोनों ही नहीं हैं अर्थात् तत्त्व निरपेक्ष है। इस प्रकार 'अहम् नहीं है'—इसका भी निषेध कर दें और चुप हो जायँ। कुछ भी चिन्तन न करें, न संसारका, न परमात्माका, न स्वयंका। अगर चिन्तन आता है तो उसकी उपेक्षा कर दें। जो अपने-आप आता है, उसके पाप-पुण्यके भागी हम नहीं बनते। जैसे, संसारमें बहुत-सी हत्याएँ होती हैं और बहुत-सा उपकार होता है, पर हम न तो हत्याके पापके भागी होते हैं, न उपकारके पुण्यके भागी होते हैं। कारण कि वह होता है, हम नहीं करते। जो होता है, उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। जो होता है, वह मिटता है। जो मिटता है, वह असत् है। जो असत् है, उसका हमारेसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद है।

संकल्प पहले नहीं था, पीछे पैदा हो गया और फिर मिट जायगा। संकल्पका होना भी मिटनेमें है और मिटना भी मिटनेमें है। मिटनेके प्रवाहको ही होना कहते हैं। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। अतः जो संकल्प अपने-आप होता है, उसकी उपेक्षा कर दें। उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें; न अपना समझें, न दूसरेका समझें। वह बना रहे—यह भावना भी न करें और वह मिट जाय—यह भावना भी न करें। यही जीवन्मुक्त-अवस्था है। गीतामें आया है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(१४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य 'ये क्यों आ गये'—ऐसे इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनके आनेकी इच्छा नहीं करता।'

मनमें कोई भाव आ गया तो वह जायगा—यह नियम है। जो उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा—यह नियम है। जाते हुएको हम भूलसे आया हुआ मान लेते हैं। वास्तवमें वह आया नहीं है, प्रत्युत जा रहा है। उत्पन्न नहीं हुआ है, प्रत्युत मर रहा है। जो जा रहा है, मर रहा है, उसके लिये क्या हर्ष और क्या शोक? क्या राजी और क्या नाराजी? जो जा रहा है, उसकी तरफ दृष्टि न डालें। सात्त्विक वृत्ति आयी या राजसी वृत्ति आयी अथवा तामसी वृत्ति आयी; संयोग हुआ या वियोग हुआ; आया या गया, कुछ न देखें—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

(गीता १४। २३)

'जो उदासीनकी तरह स्थित है* और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।'

वास्तवमें न कुछ आया है, न गया है; न उत्पन्न हुआ है, न नष्ट हुआ है, प्रत्युत गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। अपना उससे कुछ प्रयोजन नहीं, कुछ लेन-देन नहीं। इस प्रकार तटस्थ रहकर चुप, शान्त हो जायँ तो हमारी स्थिति स्वतः तत्त्वमें ही रहेगी। तत्त्वमें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका नाम ही जीवन्मुक्ति है, कल्याण है, उद्धार है।

* एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, फिर किससे उदासीन हों? इसलिये यहाँ '**उदासीनवत्**' 'उदासीनकी तरह' कहा है।

अभ्यास और विवेचन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके साधन दो प्रकारके हैं—क्रियाप्रधान और विवेकप्रधान। क्रियाप्रधान साधनमें अभ्यासकी मुख्यता होती है और विवेकप्रधान साधनमें विवेचनकी मुख्यता होती है। इन दोनोंमेंसे किसी भी साधनको करें, अन्तमें विवेककी मुख्यतासे ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी। कारण कि क्रियाका तो आदि और अन्त होता है, पर विवेकका आदि और अन्त नहीं होता। अत: परिणाममें क्रियाका तो अन्त हो जाता है और विवेक तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है।

विवेचनका स्वरूप है—गहरा विचार करना कि तत्त्व क्या है? विचार करनेसे जो अतत्त्व है, उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतत्त्वकी निवृत्ति होनेपर तत्त्व ज्यों-का-त्यों शेष रह जाता है, अनुभवमें आ जाता है। अत: विवेचन परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका मुख्य साधन है। श्रीशंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—

को दीर्घरोगो भव एव साधो
किमौषधं तस्य विचार एव॥

(प्रश्नोत्तरी ७)

'दीर्घरोग। क्या है? हे साधो! संसारमें आना (जन्म-मरण) ही दीर्घरोग है। उसकी दवा क्या है? विचार ही उसकी दवा है।' कारण कि अविचारसे ही बन्धन हुआ है।

विचार दो तरहका होता है। एक विचार करना होता है और एक विचार उदय होता है। जो विचार किया जाता है, उसमें तो क्रिया है; परन्तु जो विचार उदय होता है, उसमें क्रिया नहीं है। विचार करनेमें तो बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पर विचार उदय होनेपर बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अत: तत्त्वबोध विचार करनेसे नहीं होता, प्रत्युत विचार उदय होनेसे होता है। तात्पर्य है कि

तत्त्वप्राप्तिके उद्देश्यसे विचार करते-करते 'संसारके साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं'— इस विचारका उदय होता है। विचारका उदय होते ही विवेक बोधमें परिणत हो जाता है अर्थात् असत्से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होते ही तत्त्वबोध हो जाता है। विचारका उदय होनेको ही गीताने '**स्मृतिर्लब्धा**' (१८। ७३) कहा है।

विवेचनसे विचारका उदय होता है और अभ्याससे नयी अवस्था पैदा होती है। उदय होना और पैदा होना—दोनोंमें बड़ा अन्तर है। जो चीज उदय होती है, वह पहलेसे ही विद्यमान होती है और जो चीज पैदा होती है, वह पहलेसे विद्यमान नहीं होती। जैसे, सूर्य उदय होता है, पैदा नहीं होता। हमारी आँखोंके आगेसे आड़ हट जाती है तो उसको सूर्यका उदय होना कह देते हैं और आगे आड़ आ जाती है तो उसको सूर्यका अस्त होना कह देते हैं। जिस जगहसे सूर्यका उदय होना दीखता है, उसको 'उदयाचल' कहते हैं और जिस जगहसे सूर्यका अस्त होना दीखता है, उसको 'अस्ताचल' कहते हैं। वास्तवमें प्रत्येक जगह ही उदयाचल और अस्ताचल है। ऐसे ही अविचार (अज्ञान)-की आड़ हट जाती है तो उसको विचारका उदय होना कहते हैं। वास्तवमें अज्ञान है नहीं, तभी वह मिटता है। अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है, प्रत्युत विवेकका अनादर करना, जाने हुएको महत्त्व न देना ही अज्ञान है।

जीव सत्यसंकल्प परमात्माका अंश है। अतः जब यह अपनेमें अज्ञानको स्वीकार कर लेता है, तब अज्ञानकी सत्ता न होनेपर भी सत्ता दीखने लग जाती है—

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १। ११७। ४)

इसलिये अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**' (गीता ४। ३५)। कारण कि जब अज्ञानकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है।

अभ्याससे अप्राप्तकी प्राप्ति होती है और विवेचनसे नित्यप्राप्तकी प्राप्ति होती है। अतः अभ्यास सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिमें काम आता है और विवेचन परमात्मतत्त्वकी खोजमें काम आता है। यद्यपि विवेचनके बिना अभ्यास नहीं होता, तथापि केवल विवेचनसे सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे, तबला बजाना सीखते हैं तो पहले उसका विवेचन करते हैं, बोल सीखते हैं, फिर उसका अभ्यास करते हैं। केवल विवेचन करनेसे मनुष्य बोल तो सीख जाता है, पर तबला नहीं बजा सकता। परन्तु केवल विवेचन करनेसे मनुष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है।

अभ्याससे नींद आती है और विवेचनसे नींद उड़ जाती है। कारण कि जितना अधिक अभ्यास करते हैं, उतनी ही थकावट आती है और विवेचनमें जितना गहरा उतरते हैं, उतनी ही थकावट दूर होती है तथा बुद्धिमें स्वच्छता आती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है और विवेचनसे अवस्थातीत तत्त्वका अनुभव होता है।

परमात्मतत्त्व नित्यप्राप्त है; अतः उसकी खोज (नित्यप्राप्तकी प्राप्ति) होती है, निर्माण (अप्राप्तकी प्राप्ति) नहीं। परमात्मतत्त्वकी खोजके लिये जब साधक विवेचन करता है, तब उसका विवेक विकसित होकर तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। परन्तु जब वह केवल सीखनेके लिये विवेचन करता है, तब वह अत्यधिक मोहमें आबद्ध हो जाता है—'**द्वैताद्वैतमहामोहः**'। कारण कि

सीखना बुद्धिका संग्रह (परिग्रह) है। यह सिद्धान्त है कि संग्रह संग्रहीको दबाता (पराधीन बनाता) है, उसकी फजीती करता है और त्याग त्यागीको स्वतन्त्र बनाता है, उसकी इज्जत बढ़ाता है। जैसे, धनका संग्रह करनेवाला धनके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो वास्तवमें धन ही बड़ा हुआ, वह खुद तो छोटा ही हुआ! वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर वास्तवमें उसका गुलाम हो जाता है तो यह उसकी फजीती ही हुई! तात्पर्य है कि संग्रहमें जडकी मुख्यता होती है और त्यागमें चेतनकी मुख्यता होती है। अतः संग्रह करनेसे स्वयं दब जाता है तथा जड़ता आ जाती है और अनुभवसे संग्रह दब जाता है तथा चेतनता आ जाती है। संग्रह कितना ही क्यों न हो, सीमित ही होता है, पर त्याग सदा असीम होता है। सीमित वस्तुसे सीमित संसारकी प्राप्ति होती है और असीम वस्तुसे असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः साधकको परमात्मतत्त्वकी खोज (अनुभव)-के लिये विवेचन करना चाहिये, बुद्धिके संग्रहके लिये अर्थात् सीखनेके लिये नहीं। इसलिये सन्तोंने कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ॥

२. परमात्मा सगुण है या निर्गुण?

शास्त्रमें आया है कि जीवकी उपाधि अविद्या है, जो मलिन सत्त्वप्रधान है और ईश्वर (सगुण)-की उपाधि माया है, जो शुद्ध सत्त्वप्रधान है। इस बातको लेकर ऐसी मान्यता है कि परमात्माका सगुण रूप मायिक है, वास्तविक रूप तो निर्गुण-निराकार ही है। परन्तु वास्तविक दृष्टिसे देखें तो यह मान्यता सही नहीं है। जीवको नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ब्रह्म माना गया है—'**अयमात्मा ब्रह्म**', '**तत्त्वमसि**' आदि। विचार करना चाहिये कि जब अविद्यामें पड़ा हुआ, मलिन-सत्त्वकी उपाधिवाला जीव भी स्वरूपसे ब्रह्म ही है, तो फिर शुद्ध-सत्त्वप्रधान ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप क्यों नहीं है? वह मायिक कैसे हो गया? ईश्वर तो मायाका अधिपति है। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-से किसीने कहा कि ईश्वर और जीव—ये दोनों मायारूपी धेनुके बछड़े हैं। सेठजी बोले कि मायारूपी धेनुका बछड़ा जीव है, ईश्वर नहीं। ईश्वर तो साँड़ अर्थात् मायाका अधिपति है। जैसे साँड़ गायोंका मालिक होता है, ऐसे ही ईश्वर मायाका मालिक है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

(मानस ७। ७८। ३-४)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

(मानस १।११७।४)

भागवतमें आया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।११)

'तत्त्वज्ञ पुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।' तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व निर्गुण-निराकार (ब्रह्म) भी है, सगुण-निराकार (परमात्मा) भी है और सगुण-साकार (भगवान्) भी है।

गीतामें निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—तीनोंके लिये 'ब्रह्म' शब्द आया है। जैसे, निर्गुण-निराकारके लिये '**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः**' (५।१९), '**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (८।३), '**अनादिमत्परं ब्रह्म**' (१३।१२) आदि; सगुण-निराकारके लिये '**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (३।१५), '**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः**' (१७।२३) आदि और सगुण-साकारके लिये '**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**' (५।१०), '**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**' (१०।१२) पद आये हैं।

जैसे किसी आदमीको कपड़ोंके सहित कहें अथवा कपड़ोंसे रहित कहें, आदमी तो वही है, ऐसे ही परमात्माको गुणोंके सहित (सगुण) कहें अथवा गुणोंसे रहित (निर्गुण) कहें, परमात्मा तो वही (एक ही) हैं। भेद हमारी दृष्टिमें है। परमात्मामें भेद नहीं है। सगुण-निर्गुणका भेद बद्ध जीवकी दृष्टिसे है। मुक्तकी दृष्टिसे तो एक परमात्मतत्त्व ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**'। बद्धकी दृष्टि वास्तविक नहीं होती, प्रत्युत मुक्तकी दृष्टि वास्तविक होती है। अतः कोई सगुणकी उपासना करे अथवा निर्गुणकी, उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है। कारण

कि वह गुणोंकी उपासना नहीं करता, प्रत्युत भगवान्‌की उपासना करता है। गुण तो बाँधनेवाले होते हैं*।

कोई परमात्माको सगुण मानता है और कोई निर्गुण मानता है तो यह उनका अपना दृष्टिकोण है। इस विषयको समझनेके लिये एक दृष्टान्त है। पाँच अन्धे थे। उन्होंने एक आदमीसे कहा कि भाई, हमें हाथी दिखाओ। हम जानना चाहते हैं कि हाथी कैसा होता है? उस आदमीने उनको एक हाथीके पास ले जाकर खड़ा कर दिया। एक अन्धेके हाथमें हाथीकी सूँड़ आयी। दूसरेके हाथमें हाथीका दाँत आया। तीसरेके हाथमें हाथीका पैर आया। चौथेके हाथमें हाथीकी पूँछ आयी। पाँचवेंको हाथीके ऊपर बैठा दिया। उन्होंने अपने-अपने हाथ फेरकर हाथीको देख लिया कि ठीक है, यही हाथी है! अब वे पाँचों आपसमें झगड़ा करने लगे। एकने कहा कि हाथी तो ओवरकोटकी बाँहकी तरह होता है। दूसरेने कहा कि नहीं, हाथी तो मूसलकी तरह होता है। तीसरा बोला कि तुम दोनों झूठे हो, हाथी तो खम्भेकी तरह होता है। चौथेने कहा कि बिलकुल गलत कहते हो, हाथी तो रस्सेकी तरह होता है। पाँचवाँ बोला कि हाथी तो छप्परकी तरह होता है, यह मेरा अनुभव है। इस तरह सबका वर्णन सही होते हुए भी गलत है; क्योंकि वह एक अंगका वर्णन है, सर्वांगका नहीं। सबने हाथीके एक-एक अंगको हाथी मान लिया, पर वास्तवमें सब मिलकर एक हाथी है। ऐसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारका झगड़ा है। वास्तवमें सब मिलकर एक ही परमात्माका वर्णन है। एक ही वस्तु अलग-अलग

---

* सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

'हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं।'

कोणसे देखनेपर अलग-अलग दिखायी देती है, ऐसे ही एक ही परमात्मा अलग-अलग दृष्टिकोणसे अलग-अलग दीखते हैं।

गीतामें आया है कि परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं—**'सदसच्चाहम्'** (९।१९), वे सत्-असत्से पर भी हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११।३७) और वे न सत् हैं, न असत् हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३।१२)। तात्पर्य है कि परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी हैं और इन सबसे विलक्षण भी हैं, जिसका अभीतक शास्त्रोंमें वर्णन नहीं आया है! उसका पूरा वर्णन हो सकता भी नहीं। प्राकृत मन, बुद्धि, वाणीके द्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है?

द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मत-मतान्तर हैं, उन सबसे परिणाममें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है—

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥

अरहटकी घड़ियाँ अलग-अलग, ऊँची-नीची रहती हैं। जब वे नीचे जाकर पानीसे भरकर ऊपर आती हैं, तब अलग-अलग होनेपर भी वे ढुलती एक ही जगह हैं।

नारायण अरु नगर के, रज्जब राह अनेक।
भावे आवो किधर से, आगे अस्थल एक॥

एक ही नगरमें जानेके कई मार्ग होते हैं। कोई पूर्वसे आता है, कोई पश्चिमसे आता है, कोई उत्तरसे आता है, कोई दक्षिणसे आता है। उनसे कोई पूछे कि नगर किस दिशामें है तो पूर्वसे आनेवाला कहेगा कि नगर पश्चिममें है। पश्चिमसे आनेवाला नगरको पूर्वमें बतायेगा। उत्तरसे आनेवाला नगरको दक्षिणमें बतायेगा। दक्षिणसे आनेवाला कहेगा कि नगर उत्तरमें है। सभी

अपने-अपने अनुभवको सच्चा बतायेंगे और दूसरेके अनुभवको झूठा बतायेंगे कि तुम झूठ कहते हो, हमने तो खुद वहाँ जाकर देखा है। वास्तवमें सभी सच्चे होते हुए भी झूठे हैं! पूर्व, पश्चिम आदिका भेद तो अपने दृष्टिकोण, आग्रहके कारण है। नगर न तो पूर्वमें है, न पश्चिममें है, न उत्तरमें है और न दक्षिणमें है। वह तो अपनी जगहपर ही है। अलग-अलग दिशाओंमें बैठे होनेसे ही वे नगरको अलग-अलग जगहपर बताते हैं।

हम किसी महात्माके विषयमें पहले कल्पना करते हैं कि वह ऐसा होगा, ऐसी उसकी दाढ़ी होगी, ऐसा उसका शरीर होगा आदि-आदि। परन्तु वहाँ जाकर उस महात्माको देखते हैं तो वह वैसा नहीं मिलता। ऐसे ही किसी शहरके विषयमें जैसी धारणा करते हैं, वहाँ जाकर देखनेपर वह वैसा वहीं मिलता। जब लौकिक विषयमें भी हम जो धारण करते हैं, वह सही नहीं निकलती, फिर जो सर्वथा असीम, अनन्त अपार, अलौकिक, गुणातीत परमात्मा हैं, उनके विषयमें धारणा सही कैसे निकलेगी?

उपासना करनेवालोंके लिये 'भगवान्‌का स्वरूप क्या है'—इस विषयमें दो ही बातें हो सकती हैं, एक तो भगवान् पहले अपना स्वरूप दिखा दें, फिर उसके अनुसार उपासना करें और दूसरी, हम पहले भगवान्‌का कोई भी स्वरूप मान लें, फिर उपासना करें। इन दोनोंमें दूसरी बात ही ठीक बैठती है। कारण कि भगवान् पहले अपना स्वरूप दिखा दें, फिर हम साधन करें तो उस स्वरूपका ध्यान, वर्णन आदि करनेमें हमारेसे कहीं-न-कहीं गलती हो ही जायगी, जिसका हमें दोष लगेगा। भगवान् भी कह सकते हैं कि तुमने भूल क्यों की? इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके यह नियम बनाया है कि साधक उनके जिस रूपका ध्यान करें, जिस नामका जप करें, उसको वे अपना ही मान लेते हैं; क्योंकि भगवान् सब कुछ हैं।

अगर हमने यह सिद्धान्त बना लिया कि परमात्मतत्त्व सगुण ही है अथवा निर्गुण ही है, तो फिर उसकी प्राप्ति हो ही गयी, हमने उसको जान ही लिया, फिर साधन करनेकी क्या जरूरत रही? अगर हम उसकी प्राप्ति नहीं मानते, अपनेको ज्ञात-ज्ञातव्य नहीं मानते और साधन करनेकी जरूरत समझते हैं तो हमने अभी उसको तत्त्वसे जाना नहीं है। वास्तवमें आजतक वेद, पुराण, सन्तवाणी आदिमें परमात्माका जितना वर्णन हो चुका है, जितना वर्णन वर्तमानमें हो रहा है और जितना वर्णन भविष्यमें होगा, वह सब-का-सब मिलकर भी परमात्माका पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता। परमात्माके विषयमें हम जितनी कल्पना कर सकते हैं, परमात्मा उससे भी विलक्षण हैं?* वेद, पुराण, सन्तवाणी आदिमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह वाद-विवादके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका उद्देश्य, उसकी सार्थकता यही है कि मनुष्य परमात्माको वैसा मानकर उनके सम्मुख हो जाय और उनकी प्राप्तिमें तत्परतासे लग जाय तथा उनकी प्राप्ति कर ले।

परमात्मा सगुण हैं, निर्गुण नहीं हैं अथवा परमात्मा निर्गुण हैं, सगुण नहीं हैं—इसमें विधि-अंश (परमात्मा सगुण हैं या परमात्मा निर्गुण हैं—ऐसा) मानना तो ठीक है, पर निषेध-अंश (परमात्मा सगुण नहीं हैं या परमात्मा निर्गुण नहीं हैं—ऐसा) मानना बहुत बड़ी गलती है। कारण कि निषेध-अंश माननेसे हमने एक तो परमात्माको सीमित मान लिया, उनमें कमी मान ली और दूसरे, जिसका हमने निषेध किया, उसकी उपासना करनेवालोंके हृदयको ठेस पहुँचायी, उनको विचलित किया, जो कि एक बड़ा अपराध है। कारण कि दूसरे मतको माननेवाला साधक कोई निषिद्ध आचरण (पाप) नहीं

* देखें—गीताप्रेससे प्रकाशित 'सहज साधना' पुस्तकमें 'वर्णनातीतका वर्णन' शीर्षक लेख।

करता, प्रत्युत जिस किसी प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा हुआ है। अत: उसकी निन्दा करनेसे उसका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर अपनी हानि हो ही जायगी अर्थात् हमारी उपासनामें बाधा लग ही जायगी। परमात्मा सगुण नहीं हैं अथवा निर्गुण नहीं हैं—इस प्रकार हम अपने उपास्यको सीमित बनायेंगे तो उसकी उपासना भी सीमित ही होगी। भगवान्‌के एक रूपको माननेवालोंके साथ राग होगा और दूसरे रूपको माननेवालोंके साथ द्वेष होगा तो इस प्रकार राग-द्वेषके रहते हुए परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? हम अपनी समझ बता सकते हैं कि हमें तो भगवान्‌का अमुक रूप समझमें आता है, पर परमात्माका ठेका लेना कि वे ऐसे ही हैं—यह गलतीकी बात है।'

हमें तो सगुण ही प्रिय लगता है अथवा हमें तो निर्गुण ही ठीक लगता है या हमें तो द्वैत सिद्धान्त ही ठीक जँचता है अथवा हम तो अद्वैत सिद्धान्तको ही ठीक समझते हैं—ऐसा कहना तो साधकके लिये ठीक है, पर दूसरेके इष्ट, सिद्धान्त, मत आदिकी निन्दा या खण्डन करना साधकके लिये महान् बाधक है। भगवान्‌के एक रूपको ही मानकर उसका आग्रह, पक्षपात रखना 'अनन्यता' नहीं है। अनन्यताका तात्पर्य है—भगवान्‌के सिवाय संसारमें कहीं भी आसक्ति न करना।

साधकको अपने मत, सम्प्रदाय आदिका आग्रह नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत उसका अनुसरण करना चाहिये। अपने मतका आग्रह रखनेसे उसका दूसरे मतसे द्वेष हो जायगा, जिससे वह दूसरे मतकी बातोंको निष्पक्ष होकर नहीं सुन सकेगा। सभी मत, सम्प्रदाय आदिमें अच्छे-अच्छे सन्त-महापुरुष हुए हैं। अपने मतका आग्रह रहनेसे साधक उन सन्त-महापुरुषोंकी अच्छी-अच्छी बातोंसे वंचित रह जायगा। अत: साधकको चाहिये कि वह प्रत्येक मत, सम्प्रदाय आदिकी बातोंको निष्पक्ष होकर सुने, उनपर गहराईसे विचार करे

और जो बातें उपयोगी लगें, उनको ग्रहण करे। साधकको सारग्राही बनना चाहिये। अगर उसको अपने या दूसरेके मतमें कोई शंका पैदा हो जाय तो जिनपर उसकी श्रद्धा हो, उनसे पूछकर समाधान कर लेना चाहिये। न समझनेके कारण अपने मतमें कोई कमी या बाधा दीखे तो उसका त्याग कर देना चाहिये। उपनिषद्‌में आचार्य अपने शिष्योंको उपदेश देते हैं—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।'

(तैत्तिरीय० १।११)

'जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण दीखें, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

इसका अर्थ यह नहीं है कि उन आचार्योंमें कोई कमी या दोष है। कमी हमारी समझमें है, उनमें नहीं। अतः उनकी कोई क्रिया हमारी समझमें न आये, उसमें हमारी दोषदृष्टि हो जाय तो उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

साधकका वास्तविक गुरु उसका 'विवेक' ही है। अतः अपने विवेकका आदर करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। जितना जानते हैं, उसको मान लें—यह विवेकका आदर है। यह नाशवान् है—ऐसा जानते हुए भी उसमें प्रियता करना अपने विवेकका अनादर है। जिसकी नाशवान्‌में प्रियता है, वह अविनाशी तत्त्वको कैसे समझेगा? अगर वह असत्‌में ही उलझा रहेगा तो सत्-तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी? जिसकी भोग और संग्रहमें प्रियता है, वह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति तो दूर रही, उसकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४४)

'उस पुष्पित (भोगोंका वर्णन करनेवाली) वाणीसे जिनका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

साधकके लिये केवल इतना ही मान लेना आवश्यक है कि 'परमात्मतत्त्व है' अथवा 'संसार नहीं है'। परमात्मतत्त्व कैसा है—यह जाननेकी जरूरत नहीं है। कारण कि परमात्मतत्त्व विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका, मान्यताका विषय है* परन्तु 'परमात्मा है'—इसकी दृढ़ताके लिये 'संसार नहीं है'—यह विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे, शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है, अभावमें जा रहा है—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। बचपनमें जैसा शरीर था, वैसा अब नहीं रहा, सर्वथा बदल गया, पर मैं (स्वयं) वही हूँ—इस प्रकार शरीरके बदलनेका ज्ञान सबको है, पर अपने बदलनेका ज्ञान किसीको भी नहीं है; क्योंकि अपना स्वरूप कभी बदलता ही नहीं। ऐसा विचार करके साधक बदलनेवाले (संसार)-से विमुख हो जाय तो उसको न बदलनेवाले (परमात्मतत्त्व)-का अनुभव हो जायगा।

---

* इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिये 'सहज साधना' पुस्तकमें 'जिज्ञासा और बोध' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

३. सत्-असत्का विवेक

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२।१६)

'असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।'

इस श्लोकार्धमें तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

१ '**भू सत्तायाम्**'—जैसे, '**अभावः**' और '**भावः**'।

२ '**अस् भुवि**'—जैसे, '**असतः**' और '**सतः**'।

३ '**विद् सत्तायाम्**'—जैसे, '**विद्यते**' और '**न विद्यते**'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक (सत्ता) ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना अलग अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'**भू**' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, '**अस्**' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और '**विद्**' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानमें सत्ता) है।

'**नासतो विद्यते भावः**' पदोंका अर्थ है—'**असतः भावः न विद्यते**' अर्थात् असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षणमें अभाव है, उसका सदा

अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितना ही महत्त्व दें, उसको कितना ही ऊँचा मानें, उसका कितना ही सहारा लें, उसकी कितनी ही गरज करें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं। असत् कभी प्राप्त हुआ ही नहीं। असत् कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सतः**' पदोंका अर्थ है—'**सतः अभावः न विद्यते**' अर्थात् सत्का अभाव विद्यमान नहीं है। दूसरे शब्दोंमें, सत्की सत्ता सदा विद्यमान है। सत् सदा वर्तमान है। सत् सदा उपस्थित है। सत् सदा प्राप्त है। सत् सदा मिला हुआ है। सत् सदा मौजूद है। सत् सदा कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल आदि तो असत् (अभावरूप) हैं, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २। १७)।

जैसे, नदी निरन्तर बहती है, एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रहती। परन्तु वह जिस आधारशिलाके ऊपर बहती है, वह शिला निरन्तर स्थिर रहती है, एक इंच भी आगे बहकर नहीं जाती। नदीमें कभी स्वच्छ जल आता है, कभी कूड़ा-कचरा आता है, कभी पुष्प

बहते हुए आ जाते हैं, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई मनुष्य तैरता हुआ आ जाता है; परन्तु शिलामें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-की-त्यों अपनी जगह स्थित रहती है। तात्पर्य है कि जो निरन्तर बहता है, वह 'असत्' है और उसका भाव (होनापन) विद्यमान नहीं है एवं जो निरन्तर रहता है, वह 'सत्' है और उसका अभाव (न होनापन) विद्यमान नहीं है।

भगवान् कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

'सभी मनुष्योंकी जो रात है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं, वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।'

सांसारिक मनुष्य रात-दिन भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, उनको ही महत्ता देते हैं, सांसारिक कार्योंमें बड़े सावधान और निपुण होते हैं, तरह-तरहके कला-कौशल सीखते हैं, लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानने हैं, सांसारिक पदार्थोंकी बड़ी महिमा गाते हैं, सदा जीवित रहकर सुख भोगनेके लिये बड़ी-बड़ी तपस्या करते हैं, देवताओंकी उपासना करते हैं, मन्त्र-जप करते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष तथा सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह बिलकुल रात है, अन्धकार है, उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है। कारण कि उनकी दृष्टिमें ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार विद्यमान है ही नहीं।*

* आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

(गीता ८।१६)

जैसा है, वैसा अनुभव करनेका नाम 'ज्ञान' है और जैसा है ही नहीं, उसको 'है' मान लेनेका नाम 'अज्ञान' है। जिनको असत्के अभावका और सत्के भावका अनुभव हो गया है, वे तत्त्वज्ञानी हैं, जीवन्मुक्त हैं, विदेह हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, गुणातीत हैं, भगवत्प्रेमी हैं, वैष्णव हैं। परन्तु जो असत्का भाव और सत्का अभाव मानते हैं, असत्को प्राप्त और सत्को अप्राप्त मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, बेसमझ हैं, विपरीत बुद्धिवाले हैं।

भगवान् कहते हैं—

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

असत्का अभाव और सत्का भाव—दोनोंके तत्त्व (निष्कर्ष)-को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं*। तात्पर्य है कि असत्का तत्त्व भी सत् है और सत्का तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व एक 'सत्' ही है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व—'है' के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्का भाव सिद्ध हुआ और सत्का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत् ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। सत्के सिवाय और कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं तथा होनेकी सम्भावना ही नहीं।

---

* 'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—देखना और अनुभव करना (जानना)—'पश्यार्थैश्चानालोचने' (पाणि० अष्टा० ८। १। २५)।

४. अवस्थातीत तत्त्वका अनुभव

[पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस लेखको मनोयोगपूर्वक धीरे-धीरे, समझ-समझकर पढ़ें।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(२।२४)

'यह सत्य-तत्त्व नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

जैसे, गंगाजी निरन्तर बहती रहती हैं, पर जिसके ऊपर बहती हैं, वह आधारशिला ज्यों-की-त्यों स्थिर रहती है। गंगाजीका जल कभी स्वच्छ होता है, कभी मटमैला होता है। कभी जल कम हो जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। कभी जल गरम हो जाता है, कभी ठण्डा हो जाता है। कभी तेज प्रवाहके कारण जल आवाज करने लगता है, कभी शान्त हो जाता है। परन्तु आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है, उसमें कभी कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह कभी जलमें मछलियाँ आ जाती हैं, कभी सर्प आदि जन्तु आ जाते हैं, कभी लकड़ीके सिलपट तैरते हुए आ जाते हैं, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कूड़ा-कचरा आ जाता है, कभी मैला आ जाता है, कभी गोबर आ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई जीवित व्यक्ति तैरता हुआ आ जाता है। ये सब तो आकर चले जाते हैं, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों अचल रहती है। ऐसे ही सम्पूर्ण अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ, घटनाएँ, क्रियाएँ आदि निरन्तर बह रही हैं, पर सबका आधार स्वयं (सत्य-तत्त्व) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन अवस्थाओं आदिमें होता है, तत्त्वमें नहीं।

वास्तवमें अवस्थाओंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। कारण कि

जिसका कभी कहीं भी अभाव होता है, उसका सदा सब जगह ही अभाव होता है और वह असत् होता है—**'नासतो विद्यते भावः'**। जिसका कभी कहीं भी अभाव नहीं होता, उसका सदा सब जगह ही भाव होता है और वह सत् होता है—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। अवस्थाओंमें सत्ताका अभाव है और स्वयंमें परिवर्तन (क्रिया)-का अभाव है। अज्ञानके कारण ही मनुष्यको स्वयंकी सत्ता अवस्थाओंमें दीखती है और अवस्थाओंका परिवर्तन स्वयंमें दीखता है। अतः अवस्थाओंकी सत्ता मानना भी भ्रम अर्थात् मिथ्या है और स्वयंमें परिवर्तन मानना भी भ्रम है। अवस्थामें स्वयंको देखना भी भ्रम है और स्वयंमें अवस्थाको देखना भी भ्रम है। तत्त्वबोध होनेपर यह भ्रम नहीं रहता।

अगर हम अवस्थाओंमें होते और अवस्थाएँ हमारेमें होतीं तो हम एक अवस्थामें ही रहते, दूसरी अवस्थामें जा सकते ही नहीं। एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें वही जा सकता है, जो अवस्थाओंसे अलग है। यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव भी है कि कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती, पर हम स्वयं निरन्तर रहते हैं।

जैसे, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—ये पाँच अवस्थाएँ हैं। जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्न-सुषुप्ति-समाधि-मूर्च्छाका अभाव है, स्वप्न-अवस्थामें जाग्रत्-सुषुप्ति-समाधि-मूर्च्छाका अभाव है, सुषुप्ति-अवस्थामें जाग्रत्-स्वप्न-समाधि-मूर्च्छाका अभाव है, समाधि-अवस्थामें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्च्छाका अभाव है और मूर्च्छा-अवस्थामें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधिका अभाव है। परन्तु अपना अभाव किसी भी अवस्थामें नहीं है और अपनेमें सम्पूर्ण अवस्थाओंका अभाव है—यह सर्वानुभूत स्वतःसिद्ध

बात है। जैसे अभी जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थाओंका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें जाग्रत्-अवस्थाका भी अभाव है। तात्पर्य है कि स्वयंमें कोई भी अवस्था नहीं है। वह अवस्थातीत तत्त्व है।

जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंकी तरह बाल, युवा और वृद्ध—ये तीनों भी अवस्थाएँ हैं। बाल्यावस्थामें युवावस्था-वृद्धावस्थाका अभाव है, युवावस्थामें बाल्यावस्था-वृद्धावस्थाका अभाव है और वृद्धावस्थामें बाल्यावस्था-युवावस्थाका अभाव है। परन्तु अपना अभाव किसी भी अवस्थामें नहीं है और अपनेमें सम्पूर्ण अवस्थाओंका अभाव है। इसको यों भी कह सकते हैं कि जैसे अभी युवावस्थामें बाल्यावस्था-वृद्धावस्थाका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें युवावस्थाका भी अभाव है। जो सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहनेवाला है, उसमें अवस्था कहाँ है? मणियोंकी मालामें सूतकी तरह सम्पूर्ण अवस्थाओंमें अपनी सत्ता अनुस्यूत है। जैसे सूतमें मणियाँ नहीं हैं, ऐसे ही सत्ता (स्वरूप)-में अवस्थाएँ नहीं हैं।

जैसे उपर्युक्त अवस्थाएँ शरीरमें होती हैं, ऐसे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—ये तीन अवस्थाएँ संसारमें होती हैं। उत्पत्ति-अवस्थामें स्थिति और प्रलयका अभाव है, स्थिति-अवस्थामें उत्पत्ति और प्रलयका अभाव है तथा प्रलय-अवस्थामें उत्पत्ति और स्थितिका अभाव है। परन्तु परमात्मतत्त्वका अभाव किसी भी अवस्थामें कभी नहीं है और परमात्मतत्त्वमें सम्पूर्ण अवस्थाओंका सदा अभाव है।

व्यष्टि (शरीर)-में स्वयंकी सत्ता है और समष्टि (संसार)-में परमात्मतत्त्वकी सत्ता है। व्यष्टि और समष्टिका भेद भी कल्पित है तथा स्वयं और परमात्मतत्त्वका भेद भी कल्पित है।

धनवत्ता-निर्धनता, विद्वत्ता-मूर्खता, सरोगता-नीरोगता, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब अवस्थाएँ हैं। धनवत्ताके समय निर्धनताका अभाव है और निर्धनताके समय धनवत्ताका अभाव है। परन्तु स्वयंका अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें नहीं है और स्वयंमें दोनों ही अवस्थाओंका अभाव है। इसको यों भी कह सकते हैं कि धनको सत्ता और महत्ता देनेसे ही धनवत्ता और निर्धनता है। अगर धनको सत्ता और महत्ता न दें तो न धनवत्ता है, न निर्धनता है।

विद्वत्तामें मूर्खताका अभाव है और मूर्खतामें विद्वत्ताका अभाव है। जैसे विद्वत्तामें मूर्खताका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें विद्वत्ताका भी अभाव है और जैसे मूर्खतामें विद्वत्ताका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें मूर्खताका भी अभाव है। विद्याको सत्ता और महत्ता देनेसे ही विद्वत्ता और मूर्खताका भान होता है। अगर विद्याको सत्ता और महत्ता न दें तो न विद्वत्ता है, न मूर्खता है। विद्वत्ता और मूर्खता दोनों सापेक्ष अवस्थाएँ हैं। निरपेक्ष सत्ता (स्वयं)-में न विद्वत्ता है, न मूर्खता।

रोगावस्थामें नीरोगताका अभाव है और नीरोगावस्थामें रोगका अभाव है। परन्तु स्वयंका अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें नहीं है और स्वयंमें दोनों ही अवस्थाओंका अभाव है। अगर स्वयं दोनों अवस्थाओंमें होता तो अवस्थाके बदलनेपर स्वयं भी बदल जाता और अवस्थाके बदलनेका ज्ञान भी स्वयंको नहीं होता। अगर स्वयंमें दोनों अवस्थाएँ होतीं तो अवस्थाका भेद नहीं होता और अवस्थाका अभाव भी नहीं होता तथा एक ही अवस्था निरन्तर रहती। परन्तु अवस्थाओंके बदलनेका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने बदलनेका अनुभव कभी किसीको हुआ नहीं, होगा नहीं, है नहीं और हो सकता नहीं।

अनुकूलताके समय प्रतिकूलता नहीं है और प्रतिकूलताके समय अनुकूलता नहीं है। परन्तु जिसको इन दोनों अवस्थाओंका ज्ञान है, उस स्वयंमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है। अनुकूलताकी अपेक्षा प्रतिकूलता है और प्रतिकूलताकी अपेक्षा अनुकूलता है। निरपेक्ष सत्ता (स्वयं)-में न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता।

बन्धन-अवस्थामें मुक्तिका अभाव है और मुक्त-अवस्थामें बन्धनका अभाव है। जैसे बन्धन-अवस्थामें मुक्ति नहीं है, ऐसे ही स्वयंमें बन्धन-अवस्था भी नहीं है और जैसे मुक्त-अवस्थामें बन्धन नहीं है, ऐसे ही स्वयंमें मुक्त-अवस्था भी नहीं है। बन्धनकी अपेक्षा मुक्ति है और मुक्तिकी अपेक्षा बन्धन है। अपेक्षा न हो तो स्वयंमें न बन्धन है, न मुक्ति।

इसी तरह सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा आदि भी अवस्थाएँ हैं, पर जो इन अवस्थाओंको जाननेवाला है, उसमें ये अवस्थाएँ नहीं हैं।

जैसे सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो प्यास और जल—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। प्यास लगनेपर जलका चिन्तन होता है और जिसका चिन्तन होता है, उसके साथ सम्बन्ध होता है। जब जल पीते हैं, तब प्यास शान्त हो जाती है। अतः प्यास और जल—दोनोंमें जातीय एकता (सजातीयता) है। जलकी इच्छा ही प्यास है, जलका अभाव प्यास नहीं है। ऐसे ही धनकी इच्छा ही निर्धनता है*, धनका अभाव निर्धनता नहीं है। जैसे, कुत्तेके पास धनका अभाव है, पर वह निर्धन नहीं कहलाता। विरक्त, त्यागी पुरुषको कोई निर्धन नहीं कहता। तात्पर्य है कि जैसे, प्यास और जल एक है, ऐसे ही धनवत्ता और निर्धनता, विद्वत्ता और मूर्खता आदि भी एक हैं, क्योंकि दोनों ही सापेक्ष अवस्थाएँ हैं। अतः

* 'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः' (प्रश्नोत्तरी ५)

पहले मैं निर्धन था, अब मैं धनवान् हूँ; पहले मैं मूर्ख था, अब मैं विद्वान् हूँ—यह केवल अवस्थाका परिवर्तन है। परन्तु स्वयं अवस्थातीत है। ऐसे ही मनुष्य स्वर्गमें जाता है अथवा ब्रह्मलोकमें जाता है तो यह केवल अवस्थाका परिवर्तन है '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८।१६)।

वास्तवमें प्यासकी जितनी सत्ता है, उतनी जलकी सत्ता नहीं है। कारण कि प्याससे जलके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और प्यास मिटनेसे जलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होता है। ऐसे ही संसारकी इच्छासे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और परमात्माकी इच्छासे परमात्माके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। संसारकी प्राप्ति होनेपर संसारकी इच्छा मिटती नहीं, प्रत्युत और बढ़ती है; क्योंकि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर परमात्माकी इच्छा पूर्ण हो जाती है; क्योंकि परमात्माकी नित्य सत्ता है। तात्पर्य है कि संसारकी प्राप्ति होनेपर भी कमीकी पूर्ति नहीं होती, प्रत्युत कमी बढ़ती है। जैसे, धन मिलनेपर भी धनकी इच्छा बढ़ती है और इच्छा बढ़नेसे धनका अभाव तथा दुःख, सन्ताप, जलन आदि बढ़ते हैं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर कमीका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता; क्योंकि परमात्मामें कमी है ही नहीं।

अगर हम अवस्थाओंकी सत्ताको स्वीकार करें तो अवस्थाओंकी अनित्यता तथा अनेकता और अपनी नित्य तथा एक सत्ता अनुभवमें आती है और अगर हम अवस्थाओंकी सत्ताको स्वीकार न करें अर्थात् अवस्थाओंकी कल्पना न करें तो एकमात्र अपनी नित्य सत्ता स्वतः ज्यों-की-त्यों अनुभवमें आती है। इसको यों भी कह सकते हैं कि हम अवस्थाओंकी सत्ताको मानें तो उनका भाव दीखता है

और उनकी सत्ताको न मानें तो उनका अभाव दीखता है; परंतु अपनी सत्ताको मानें अथवा न मानें, उसका भाव ही दीखता है, अभाव कभी नहीं दीखता। इसलिये गीताने कहा है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। जो विद्यमान है, वह तत्त्व है और जो विद्यमान नहीं है, वह अतत्त्व है। तत्त्वमें अतत्त्व नहीं है और अतत्त्वमें तत्त्व नहीं है। परन्तु यह कथन अतत्त्वकी सत्ता माननेसे ही है।

अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार करके अपनेको अवस्थामें और अवस्थाको अपनेमें माननेसे संसारमें प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति न करना होती है। उस प्रवृत्ति और निवृत्तिको लेकर अपनेमें 'कर्तृत्व' दीखता है और उसके फलको लेकर अपनेमें 'भोक्तृत्व' दीखता है। अगर अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार न करें तो अपनेमें अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अर्थात् वास्तविक एवं निरपेक्ष निर्विकारताका अनुभव स्वतः हो जाता है।

जब साधक वर्तमानमें '**नैव किंचित्करोमि**' (गीता ५। ८) 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—इस प्रकार स्वयंको अकर्ता अनुभव करने लगता है, तब उसके सामने एक बड़ी समस्या आती है। जब उसको भूतकालमें किये हुए अच्छे कर्मोंकी याद आती है, तब वह सुखी हो जाता है कि मैंने बहुत अच्छा काम किया, बहुत ठीक किया! और जब उसको निषिद्ध कर्मोंकी याद आती है, तब वह दुःखी हो जाता है कि मैंने बहुत बुरा काम किया, बहुत गलती की। इस प्रकार भूतकालमें किये गये कर्मोंके संस्कार उसको सुखी-दुःखी करते हैं। इस विषयमें एक मार्मिक बात है।

स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतकालमें था और न भविष्यमें ही होगा। अतः साधकको यह देखना चाहिये कि

जैसे वर्तमानमें स्वयं अकर्ता है*, ऐसे ही भूतकालमें भी स्वयं अकर्ता था। कारण कि वर्तमान ही भूतकालमें गया है। स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई कर्म करना बनता ही नहीं। कर्म केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले अज्ञानी मनुष्यके द्वारा ही होते हैं—

'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥'

(गीता ३। २७)

साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दुःख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहंकारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दुःखी होता है। स्थूलदृष्टिसे भी देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका अभी प्रत्यक्ष अभाव है। अतः भूतकालके अभावको भावरूपसे देखना, भूतकालकी घटनाओंको सत्ता देकर राजी-नाराज होना बिलकुल गलतीकी बात है।

---

* शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(गीता १८। १५-१६)

'मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) पाँचों हेतु होते हैं। परन्तु ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो उस (कर्मोंके) विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था! इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। उस कालातीत, अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व और भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। साधक भूतकालकी स्मृतिमें ऐसा आरोप कर लेता है और सुखी-दुःखी होता है तो यह उसकी बड़ी भारी गलती, असावधानी, भूल है। कारण कि यह अहंकारविमूढात्माकी स्मृति है, सत्ता (तत्त्व)-की नहीं।

स्वयं सत्तामात्र तथा बोधस्वरूप है। बोधका अनादर करनेसे हमने असत्‌को स्वीकार किया और असत्‌को स्वीकार करनेसे अविवेक हुआ। तात्पर्य है कि बोधसे विमुख होकर हमने असत्‌को सत्ता दी और असत्‌को सत्ता देनेसे विवेकका अनादर हुआ। वास्तवमें बोधका अनादर किया नहीं है, प्रत्युत अनादर है। अगर ऐसा मानें कि हमने बोधका अनादर किया तो इससे सिद्ध होगा कि पहले बोधका आदर था। परन्तु बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है—‘**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**’ (गीता ४। ३५)। अतः बोधका अनादर किया नहीं, प्रत्युत यह अनादि और सान्त है। विवेकका आदर करनेसे, उसको महत्त्व देनेसे अविवेक मिट जाता है और बोधकी स्मृति प्राप्त हो जाती है—‘**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**’ (गीता १८। ७३)।

अपनी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। उस सत्तामें स्थिति ही तत्त्वज्ञान (बोध) है और उस सत्ताके साथ कुछ-न-कुछ मिला लेना ही अज्ञान है। अपनी सत्तामें अहम् नहीं है; परंतु उसमें अहम्‌को

मिला लेनेसे अहम्‌की सत्ता दीखने लगती है और अपने स्वतःसिद्ध सत्ताका अभाव दीखने लगता है अर्थात् उससे विमुखता हो जाती है। अहम्‌के कारण ही जीव है। अगर अहम् न हो तो जीव है ही नहीं, प्रत्युत केवल ब्रह्म ही है। बूँद तो समुद्रमें मिली हुई ही है, केवल मान्यताके कारण वह समुद्रसे अलग दीखती है। वास्तवमें एक जल-तत्त्वकी ही सत्ता है। जल-तत्त्वमें न बूँद है, न समुद्र।

स्वयंके अभावका अनुभव किसीको भी कभी नहीं होता, पर संसारके अभावका अनुभव सबको होता है। वास्तवमें अभावरूपका ही अभाव होता है और अनुभवरूपका ही अनुभव होता है। कूड़ा-करकट भी नहीं है, झाड़ू भी नहीं है और झाड़ूसे कूड़ा-करकट दूर करके मकानको साफ करनेका उद्योग भी नहीं है, केवल मकान ही है! इसी तरह न संसार है, न करण है और न संसारको हटानेका उद्योग (साधन) है, केवल सत्तामात्र है। सत्ता ('है')-के सिवाय और सब कुछ माना हुआ है।

जिसने अहंकारके साथ तादात्म्य माना है, वह जीव ही पाप-पुण्यका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता बनता है। जीव ही सुखी और दुःखी होता है। जीव ही बन्धनमें पड़ता और मुक्त होता है। परन्तु सत्तास्वरूप स्वयं न कर्ता बनता है, न भोक्ता; न सुखी होता है, न दुःखी; न बँधता है, न मुक्त होता है।

अहंकारको सत्ता न दे तो न अहंकार है, न जीव (सत्ता देनेवाला) है। दृश्यको सत्ता न दे तो न दृश्य है, न द्रष्टा है। सत्तास्वरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों है। उसमें न अनुभविता है, न अनुभव है, न अनुभाव्य ही है; न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय ही है, प्रत्युत त्रिपुटीरहित, अवस्थातीत अनुभवमात्र, ज्ञानमात्र है।

५. करणसे अतीत तत्त्व

उपनिषदोंमें आया है कि मनके द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त नहीं किया जा सकता; जैसे—

१. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

(केन० १। ५)

२. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।

(केन० १। ३)

३. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

(कठ० २। ३। १२)

परन्तु इसके साथ ही मनके द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेकी भी बात आयी है; जैसे—

१. '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' (बृहदा० ४। ४। १९)

२. '**मनसैवेदमाप्तव्यम्**' (कठ० २। १। ११)

—इन दोनों बातोंका सामंजस्य कैसे हो, इसपर कुछ विचार किया जाता है।

परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेके साधन दो प्रकारके हैं—करणसापेक्ष अर्थात् क्रियाप्रधान साधन और करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन। करणसापेक्ष साधनमें अन्तःकरणकी प्रधानता रहती है और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेकपूर्वक अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेदकी प्रधानता रहती है। अतः उपनिषदोंमें आये '**यन्मनसा न मनुते**' आदि पदोंमें करणनिरपेक्ष साधनकी बात कही गयी है और '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' पदमें करणसापेक्ष साधन (ध्यानयोग)-की बात कही गयी है। साधन चाहे करणसापेक्ष हो, चाहे करणनिरपेक्ष हो, परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करणनिरपेक्षतासे अर्थात् विवेककी प्रधानतासे ही होती है।

कारण कि परमात्मतत्त्व करणसे अतीत है; अत: कोई भी करण वहाँतक नहीं पहुँचता।

दृष्टान्तरूपसे यह कहा जा सकता है कि '**यन्मनसा न मनुते**' आदि पदोंमें फलव्याप्ति है और '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' पदमें वृत्तिव्याप्ति है। परन्तु दार्ष्टान्तरूपसे यह बात ठीक नहीं बैठती। वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें न वृत्तिव्याप्ति चलती है, न फलव्याप्ति।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें वृत्तिव्याप्ति तभी हो सकती है, जब वह वृत्ति (मन-बुद्धि)-का विषय हो। परन्तु वह वृत्तिका विषय है ही नहीं; वृत्ति वहाँतक पहुँचती ही नहीं। करणरहित परमात्मतत्त्वमें वृत्ति (करण) कैसे सम्भव है? अनुत्पन्न निर्विकल्प तत्त्वमें उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वृत्ति कैसे हो सकती है? यदि चेतन तत्त्वमें वृत्ति मानें तो वह गुणातीत एवं निर्विकार कैसे हुआ?

पकड़में आनेवाली चीज छोटी होती है और पकड़नेवाला बड़ा होता है। नेत्रोंसे वही वस्तु दीखती है, जो नेत्रोंकी पकड़में (अन्तर्गत) आती है। इन्द्रियोंसे उसी वस्तुका ज्ञान होता है, जो इन्द्रियोंसे छोटा होता है। कार्यमें कारण तो रहता है, पर कार्यके अन्तर्गत कारण नहीं आ सकता; जैसे—घड़ेमें पृथ्वी (मिट्टी) तो रहती है, पर घड़ेके अन्तर्गत पृथ्वी नहीं आ सकती। प्रकृति कारण है और वृत्ति कार्य है। जब वृत्तिसे प्रकृतिको भी नहीं पकड़ा जा सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको कैसे पकड़ा जा सकता है? जब परमात्मतत्त्वतक प्रकृति भी नहीं पहुँचती, तो फिर प्रकृतिका कार्य वृत्ति वहाँतक कैसे पहुँचेगी?

'**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' में मनका सांसारिक विषयोंसे, जड़तासे विमुख होना है। मन जड़तासे तो हट जाता है और चेतन तत्त्वको

पकड़ नहीं सकता, तब वह थककर स्वतः शान्त हो जाता है[1]। तात्पर्य है कि ध्यानयोगमें साधक अपने मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेका अभ्यास करता है। मनका संसारसे हटना ही परमात्मामें लगना है। अतः वृत्ति केवल संसारके त्यागमें ही काम आती है। जैसे, लकड़ीको जलाकर अग्नि भी स्वतः शान्त हो जाती है, ऐसे ही संसारका त्याग होनेपर वृत्तिका भी स्वतः त्याग हो जाता है। अतः वास्तवमें वृत्ति संसारकी निवृत्तिमें ही काम आती है, तत्त्वकी प्राप्तिमें नहीं। इसलिये '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' का तात्पर्य निषेधमें ही है, विधिमें नहीं।[2]

जैसे कोई राजा रथपर बैठकर रनिवासतक जाता है तो वह रथको बाहर ही छोड़ देता है और अकेले रनिवासके भीतर जाता है, ऐसे ही करणसापेक्ष साधन करनेवाला भी अन्तमें करणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अकेले (स्वयं) ही परमात्मतत्त्वमें प्रवेश करता है। जैसे रथके सम्बन्धसे मनुष्य 'रथी' कहलाता है, ऐसे ही अहम्‌के सम्बन्धसे आत्मा 'जीव' कहलाता है। जब वह अहम्‌का सम्बन्ध छोड़ देता है, तब जीवपना नहीं रहता, प्रत्युत एक तत्त्व रहता है। इसलिये जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत ब्रह्मको ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—'**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (बृहदा० ४। ४। ६)। तात्पर्य है कि जीवभाव मिटनेपर एक ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

१- यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
(गीता ६। २०)

२- गीतामें आये 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' (१३। २४), 'चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते' (६। १८), 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' (६। २५), 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' (१५। १०) आदि पदोंका भी यही भाव समझना चाहिये।

एक मार्मिक बात है कि जडताके द्वारा जडताका त्याग नहीं हो सकता, प्रत्युत जड-उपहित चेतनके द्वारा ही जडताका त्याग हो सकता है। अतः वृत्ति-उपहित चेतन ही संसारकी निवृत्ति करता है, वृत्ति नहीं। कारण कि वृत्ति खुद ही जड है, फिर वह जडताकी निवृत्ति कैसे करेगी?

मुख्य बात यह है कि जडके द्वारा चेतनका ज्ञान नहीं होता। अगर जडके द्वारा चेतनका ज्ञान हो जाय तो विशेषता जडकी ही हुई, चेतनकी नहीं; क्योंकि जड ज्ञानका जनक हुआ और ज्ञान जन्य हुआ।

'**यन्मनसा न मनुते**' और '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' आदि पदोंसे यह भाव भी निकलता है कि मन-बुद्धि तो परमात्मातक नहीं पहुँच सकते, पर सर्वसमर्थ तथा सर्वव्यापी परमात्मा मन-बुद्धितक पहुँच ही सकते हैं। इतना ही नहीं, मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माका ही ग्रहण होता है; क्योंकि परमात्माके सिवाय और कोई सत्ता विद्यमान है ही नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

प्रश्न—गीतामें परमात्मप्राप्तिसे होनेवाले आत्यन्तिक सुखको बुद्धिग्राह्य कहा गया है—'**सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्**' (६।२१)। जब प्रकृतिसे अतीत सुखको बुद्धि नहीं पकड़ सकती, तो वह बुद्धिग्राह्य कैसे हुआ?

उत्तर—आत्यन्तिक सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि वह बुद्धिकी पकड़में आनेवाला है। बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, फिर वह प्रकृतिसे अतीत सुखको कैसे पकड़ सकती है? इसलिये अविनाशी सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका तात्पर्य उस सुखको तामस सुखसे विलक्षण बतानेमें ही है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस होता है*। गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति)-में बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है और आलस्य तथा प्रमादमें बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् नहीं रहती। परन्तु स्वतःसिद्ध अविनाशी सुखमें बुद्धि अविद्यामें लीन नहीं होती, प्रत्युत पूरी तरह जाग्रत् रहती है। अतः बुद्धिकी जागृतिकी दृष्टिसे ही उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है। वास्तवमें बुद्धि वहाँतक पहुँचती ही नहीं। इसी तरह अविनाशी सुखको 'आत्यन्तिक' कहकर उसको सात्त्विक सुखसे और 'अतीन्द्रिय' कहकर उसको राजस सुखसे विलक्षण बताया गया है।

जैसे दर्पणमें सूर्य नहीं आता, प्रत्युत सूर्यका बिम्ब आता है, ऐसे ही बुद्धिमें वह आत्यन्तिक सुख नहीं आता, प्रत्युत उस सुखका बिम्ब, आभास आता है, इसलिये भी उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है।

तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंका शाश्वत सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। उसको बुद्धिग्राह्य कहनेपर भी वास्तवमें वह बुद्धिसे सर्वथा अतीत है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३।३१)।

---

* यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १८।३९)

उपनिषद्में आया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० १। ३। १०-११)

'इन्द्रियोंसे विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है, महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) है, वही परा गति है।'

६. मुक्ति और भक्ति

भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रमें भगवान्‌के प्रति स्वतः एक आकर्षण विद्यमान है। यह सिद्धान्त है कि आकर्षण सजातीयतामें होता है; अतः अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है; जैसे—पृथ्वीका अंश होनेसे ऊपर फेंके गये पत्थरका स्वतः पृथ्वीकी तरफ (नीचे) आकर्षण होता है। जैसे भगवान् और उनका अंश जीव—दोनों अविनाशी हैं, ऐसे ही उनके बीच यह आकर्षण भी अविनाशी है। परन्तु जब जीव अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, शरीरमें मैं-मेरापन कर लेता है, तब यही आकर्षण संसारकी तरफ हो जाता है। वास्तवमें संसारकी तरफ शरीरका ही आकर्षण होता है; क्योंकि शरीर समष्टि संसारका अंश है; परन्तु शरीरसे तादात्म्यके कारण जीव उस आकर्षणको अपना मानता है।

जीवमें जो एक स्वतःसिद्ध आकर्षण है, वह भगवान्‌की तरफ होनेसे 'प्रेम' और संसारकी तरफ होनेसे 'राग' हो जाता है। संसारका आकर्षण (राग) भी बढ़ता रहता है[१] और भगवान्‌का आकर्षण (प्रेम) भी बढ़ता रहता है[२]। परन्तु दोनोंमें फर्क यह है कि अनित्य होनेसे संसारका आकर्षण भी अनित्य होता है और नित्य होनेसे भगवान्‌का आकर्षण भी नित्य होता है। इसलिये संसारका रस तो

१-न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १४; मनु० २। ९४)

'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' (मानस १। १८०। १; ६। १०२। १)

२-'प्रतिक्षणवर्धमानम्' (नारद० ५४)

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुँ न सेष॥

नीरसतामें बदल जाता है, पर प्रेमका रस सदा सरस ही रहता है। वह प्रेम-रस प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है, उसका कभी अन्त आता ही नहीं! **'दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्।'**

एक मार्मिक बात है कि जैसे जीवका भगवान्‌की ओर आकर्षण है, ऐसे ही भगवान्‌का भी जीवकी ओर आकर्षण है—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस ७। ८६। २)। जीव तो संसारमें आकर्षण (राग) पैदा करके भगवान्‌से विमुख हो जाता है, पर भगवान् कभी जीवसे विमुख नहीं होते। जीवके प्रति उनके प्रेममें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती; क्योंकि वे पूर्ण हैं। इस प्रेमके कारण ही भगवान् जीवको निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं, उसको किसी भी अवस्था, परिस्थिति आदिमें टिकने नहीं देते! कोई भी अवस्था, परिस्थिति नित्य नहीं रहती। जीव जिसको भी पकड़ता है, उसको भगवान् छुड़ा देते हैं, यही भगवान्‌का जीवको अपनी ओर खींचना है। इतना ही नहीं, जीवको सांसारिक भोग और संग्रहसे स्वतः अरुचि, ग्लानि भी होती है; परन्तु हृदयमें भोग और संग्रहका ही महत्त्व होनेसे वह उनको पकड़े रखता है, छोड़ता नहीं। भगवान् छुड़ाते रहते हैं और वह नया-नया पकड़ता रहता है! आखिर भगवान्‌का अंश जो ठहरा!

बच्चेका माँसे जितना प्रेम होता है, उससे भी बहुत अधिक प्रेम माँका बच्चेसे होता है। परन्तु बच्चा माँके प्रेमको पहचानता नहीं। अगर बच्चा माँके प्रेमको पहचान ले तो वह माँकी गोदीमें रो ही नहीं सकता! अगर माँकी गोदीमें रोयेगा तो हँसेगा कहाँ? ऐसे ही भगवान्‌का जीवसे कम प्रेम नहीं है। काकभुशुण्डिजी बालरूप भगवान् श्रीरामके साथ खेलते-खेलते जब उनके पास आते हैं, तब भगवान् हँसने लगते हैं और जब उनसे दूर चले जाते हैं, तब भगवान् रोने लगते हैं—***'आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं'***

(मानस ७। ७७ क)। यह भगवान्‌का जीवके प्रति कितना प्रेम है! परन्तु अपनेको शरीर माननेके कारण, संसारमें आकर्षण (राग) होनेके कारण, भगवान्‌से विमुख होनेके कारण जीव भगवान्‌के आकर्षण (प्रेम)-को पहचानता नहीं। अगर वह भगवान्‌के प्रेमको पहचान जाय तो उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं!

जबतक शरीरमें अपनापन है, भोगोंका महत्त्व है, राग है, आसक्ति है, तबतक भगवान्‌का प्रेम प्रकट नहीं होता। बाहरसे भोगोंका त्याग कर देनेपर भी भीतरमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म आकर्षण रहता है, जिसको 'रसबुद्धि' कहते हैं। जबतक यह रसबुद्धि रहती है, तबतक भोग और संग्रहके सुखकी पराधीनता रहती है। इस रसबुद्धिके निवृत्त होनेपर पराधीनता नहीं रहती और स्वाधीनता आ जाती है। इस स्वाधीनताको ही 'मुक्ति' कहते हैं। जो पहले प्रकृतिकी परवशताके कारण 'प्रकृतिस्थ' था, वही प्रकृतिकी परवशता मिटनेपर 'स्वस्थ' हो जाता है। रसबुद्धि निवृत्त होनेपर भी संस्कार-(स्मृति-) रूपसे अहंकारकी एक गन्ध रह जाती है। परंतु अहंकारकी इस गन्धको मिटानेके लिये कोई उद्योग नहीं करना पड़ता। साधनावस्थामें अपनी प्रक्रिया (साधन, मत)-का एक आग्रह रहता है। सिद्ध (मुक्त) होनेपर यह आग्रह तो नहीं रहता, पर जिस साधनसे सिद्धि मिली है, उस साधनका एक महत्त्व (आदर) रहता है। यह महत्त्व ही अहंकारकी गन्ध है, जिसके कारण दार्शनिकोंमें तथा दर्शनोंमें मतभेद रहता है। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर यह अहंकारकी गन्ध भी निवृत्त हो जाती है और जीवकी परमात्माके साथ सहज एकता प्रकट हो जाती है।

ज्ञानयोगमें तो मुक्तिके बाद प्रेम प्राप्त होता है, पर भक्तियोगमें सीधे ही प्रेम प्राप्त हो जाता है। ज्ञानयोगके जिस

साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है*। परन्तु जिस साधकमें भक्तिके विशेष संस्कार नहीं होते और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानता है, वह सदा मुक्त ही रहता है अर्थात् उसको प्रेमकी प्राप्ति होनी कठिन है। अपने मतका आग्रह और अभिमान प्रेमकी प्राप्तिमें आड़ लगा देता है।

जैसे, कोई मनुष्य राकेटमें बैठकर पृथ्वीकी गुरुत्वाकर्षण-शक्तिसे बाहर निकल जाता है, तो वह चन्द्रमाकी गुरुत्वाकर्षण-शक्तिमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् उसका आकर्षण चन्द्रमाकी तरफ हो जाता है। ऐसे ही सांसारिक रसबुद्धिकी निवृत्ति होनेपर जब साधक संसारके आकर्षणसे बाहर निकल जाता है, तब उसका आकर्षण स्वतः भगवान्‌की तरफ हो जाता है। संसारके आकर्षणसे बाहर निकलना ही मुक्ति है और भगवान्‌की तरफ आकर्षण होना ही भक्ति (प्रेम) है। मुक्तिमें एकरस तथा अखण्ड आनन्द है और भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान तथा अनन्त आनन्द है।

प्रश्न—सभी भेद अहम्‌से पैदा होते हैं, तो फिर अहम्‌का नाश होनेपर प्रेमी-प्रेमास्पदका भेद कैसे सम्भव है?

उत्तर—तत्त्वसे प्रेमी और प्रेमास्पदमें किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। प्रेमी-प्रेमास्पदका भेद तो केवल प्रेमकी लीलाके लिये कल्पित है—

---

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८। ५४)

'ब्रह्मभूत-अवस्थाको प्राप्त प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है। ऐसा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाववाला साधक मेरी पराभक्ति-(प्रेम-) को प्राप्त हो जाता है।'

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥

(बोधसार)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है; परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर (सरस) होता है। वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजनके लिये द्वैत है। ऐसी यदि भक्ति है तो वह मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है।'

तात्पर्य है कि अहम् मिटनेसे पहलेका द्वैत बन्धनके लिये है और अहम् मिटनेके बादका द्वैत प्रेमके लिये है। ज्ञानमें तो द्वैतका अद्वैत होता है अर्थात् दो होकर एक हो जाते हैं और भक्तिमें अद्वैतका द्वैत होता है अर्थात् एक होकर दो हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म एक हो जायँ तो ज्ञान होता है और एक ही ब्रह्म दो रूप हो जायँ तो भक्ति होती है।

एक ही अद्वैत तत्त्व प्रेमकी लीलाके लिये श्रीकृष्ण और श्रीजी—इन दो रूपोंमें प्रकट होता है। दोनोंमें कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद—इसका पता ही नहीं चलता; क्योंकि दोनों ही प्रेमी हैं और दोनों ही प्रेमास्पद हैं! मुक्त होनेके बाद प्रेमी भक्त श्रीजीमें लीन हो जाते हैं अर्थात् उनका दर्जा श्रीजीकी तरह हो जाता है। तात्पर्य है कि भगवान्‌में श्रीजीका तथा श्रीजीमें भगवान्‌का जैसा आकर्षण है, वैसा ही आकर्षण भगवान्‌में उन भक्तोंका तथा भक्तोंमें भगवान्‌का हो जाता है।

७. अहम् हमारा स्वरूप नहीं

जैसे हम कहते हैं कि यह शरीर है, यह हाथ है, यह पैर है, यह पेट है; यह मकान है, यह दीवार है, यह खम्भा है; यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, तो ऐसा कहनेका अर्थ होता है कि हम अलग हैं और ये अलग हैं। यह मकान है तो मैं मकान नहीं हो सकता। इसी तरह यह अहंकार है तो मैं (स्वयं) अहंकार नहीं हो सकता। इस प्रकार अहंताको इदंतासे देखें। यह बहुत ऊँचे दर्जेकी वास्तविक और अकाट्य बात है, और जिससे तत्काल तत्त्वबोध हो जाय—ऐसी बात है!

अहम् दृश्य है और जाननेमें आता है। जैसे सूर्यका प्रकाश व्यापक होता है और उसके अन्तर्गत वस्तुएँ दीखती हैं, ऐसे ही एक व्यापक ज्ञानके अन्तर्गत अहम् दीखता है। जैसे आकाशमें अनेक तारोंके होनेपर भी आकाशका विभाग नहीं होता। एक आकाशके अन्तर्गत ही अनन्त तारे दीखते हैं। ऐसे ही एक ज्ञानके अन्तर्गत ही अनन्त अहंकार (मैंपन) दीखते हैं। जैसे सब-के-सब तारे एक आकाशमें हैं, ऐसे सब-के-सब अहंकार एक ज्ञानमें हैं। वह ज्ञान हमारा स्वरूप है। अहम् हमारा स्वरूप नहीं है। अहम्को अपना स्वरूप मान लिया—यही गलती हुई है। स्वरूप तो अहम्को प्रकाशित करनेवाला है। जैसे, हम आँखसे सब वस्तुओंको देख सकते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि जिससे सब दीखता है, वही आँख है। ऐसे ही जिससे 'मैंपन' दीखता है, वही तत्त्व है। तात्पर्य है कि 'मैंपन' इदंतासे दीखता है, पर 'मैंपन' को देखनेवाला तत्त्व (ज्ञान) इदंतासे नहीं दीखता।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ जाननेमें आनेवाली

(प्रकाश्य) हैं। जाग्रत् और स्वप्नमें तो अहम् रहता है, पर सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। वह सुषुप्ति भी जाननेमें आती है अर्थात् 'ऐसी गहरी नींद आयी कि कुछ पता नहीं था'—यह भी एक ज्ञानके अन्तर्गत दीखता है। वह ज्ञान मात्र प्रतीतिका प्रकाशक, आश्रय और आधार है। तात्पर्य है कि प्रकाशित होनेवाली वस्तु हमारा स्वरूप नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ अलग-अलग हैं, पर उनको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान अलग-अलग नहीं है। ऐसे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; आदि, मध्य और अन्त; भूत, भविष्य और वर्तमान आदि सब-के-सब एक ज्ञानके अन्तर्गत ही प्रकाशित होते हैं। ये सब तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर इनका जो आश्रय है, आधार है, अधिष्ठान है, प्रकाशक है, वह ज्ञान उत्पन्न और नष्ट नहीं होता, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों रहता है। अहम् निरन्तर नहीं रहता, पर उसको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान निरन्तर रहता है। उस ज्ञानकी दृष्टिसे अहम् भी इदम् ही है।

जितने भी परिवर्तन होते हैं, सब उस ज्ञानके अन्तर्गत ही होते हैं। वह ज्ञान कहीं आता-जाता नहीं, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों अटल रहता है—

'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' (गीता १२। ३)

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (गीता २। २४)

जैसे, प्रकाशके अन्तर्गत आदमी आते-जाते हैं, पर प्रकाश आता-जाता नहीं। सब आ जायँ तो प्रकाश रहता है, सब चले जायँ तो प्रकाश रहता है; थोड़े आ जायँ तो प्रकाश रहता है, कोई न आये तो प्रकाश रहता है। प्रकाशमें न कोई बाधा लगती है, न कोई हानि होती है, न कमी होती है, न वृद्धि होती है, न परिवर्तन होता है! संसारमें कभी

अनुकूलता आती है, कभी प्रतिकूलता आती है; कभी सुख होता है, कभी दुःख होता है; कभी ठीक होता है, कभी बेठीक होता है; कभी नफा होता है, कभी नुकसान होता है; कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है; कभी जन्म होता है, कभी मरण होता है; कभी रोग होता है, कभी नीरोगता होती है—ये सब तो अलग-अलग होते हैं, पर जिसके अन्तर्गत ये सब होते हैं, उस ज्ञानमें क्या फर्क पड़ता है? वह ज्ञान ज्यों-का-त्यों रहता है। उस ज्ञानका नाम ही आत्मा है और वही परमात्मतत्त्व है। उस ज्ञानके अन्तर्गत ही अहंता (मैंपन) है। इस प्रकार अहंताको इदंतासे देखें तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है!

प्रश्न—अहम्‌को अपनेसे अलग, स्पष्टरूपसे कैसे देखें?

उत्तर—यह विचार करें कि हमें अहम्‌का जो भान होता है कि 'मैं हूँ', यह एक देशमें होता है या सर्वदेशमें? प्रत्येक व्यक्तिको अलग-अलग अपने अहम्‌का भान होता है; अतः अहम्‌का भान एक देशमें होता है। मैं, तू, यह और वह—इन चारोंका एक-एक देशमें भान होता है। चारोंका भान जिस ज्ञानमें होता है, वह ज्ञान एक देशमें नहीं है। उस ज्ञानमें स्थित होकर देखें तो अहम् स्पष्टरूपसे अपनेसे अलग एक देशमें (इदंतासे) दीखेगा। अगर स्पष्टरूपसे न दीखे तो विवेककी जागृति नहीं हुई है। विवेककी जागृति न होनेका कारण है—विवेकका आदर न करना, उसको महत्त्व न देना। अनादिकालसे हम 'मैंपन' को अपना स्वरूप मानकर देखते आये हैं, इसलिये अपनेसे अलग स्पष्टरूपसे 'मैंपन' दीखनेमें कठिनता होती है। अगर अपने विवेकको महत्त्व दें तो यह स्पष्टरूपसे अपनेसे अलग दीखने लग जायगा। अहम्

स्पष्टरूपसे दीखे अथवा अस्पष्टरूपसे दीखे, है तो दीखनेवाला (दृश्य) ही—यह निःसन्देह बात है!

एक कुत्ता घरके आगे बैठा है। दूसरा कुत्ता वहाँ आता है तो उसको देखकर वह गुर्राता है—'**कुत्ता देख कुत्ता गुर्राया, मैं बैठा तू क्यों आया?**' यह उस कुत्तेका अहंकार है। जो अहंकार उस कुत्तेमें है और जो अहंकार हमारेमें है, उसमें कोई फर्क नहीं है। अहंकार दोनोंमें वैसा-का-वैसा ही है। अतः जैसे कुत्तेका अहंकार इदंतासे दीखता है, ऐसे ही अपनेमें भी इदंतासे अहंकार दीखना चाहिये।

जाग्रत् और स्वप्नमें 'मैंपन' दीखता है और सुषुप्तिमें 'मैंपन' नहीं दीखता—इस प्रकार 'मैंपन' का भाव और अभाव दोनों हमारे जाननेमें (देखनेमें) आते हैं। जिसको 'मैंपन' के भाव और अभावका ज्ञान होता है, उस नित्य तथा चिन्मय तत्त्वका कभी अभाव नहीं होता और उसमें 'मैंपन' भी कभी नहीं होता। इस बातकी ओर विशेष लक्ष्य करानेके लिये भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३। १)

'हे कौन्तेय! यह-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको क्षेत्र (अपरा प्रकृति) कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानिजन क्षेत्रज्ञ (परा प्रकृति) नामसे कहते हैं।'

—इस श्लोकके पूर्वार्धमें शरीरके लिये '**इदम्**' शब्द और उत्तरार्धमें '**एतत्**' शब्द आया है। व्याकरणकी दृष्टिसे '**इदम्**' और '**एतत्**' में अन्तर है। '**इदम्**' अंगुलिनिर्देशमें प्रयुक्त होता है। '**इदम्**' की अपेक्षा भी ज्यादा नजदीकको '**एतत्**' कहते हैं। अतः यहाँ '**इदम्**' शब्द शरीरके लिये और '**एतत्**'

शब्द अहम्के लिये मानना चाहिये; क्योंकि शरीरमें भी अहम् ज्यादा नजदीक है। इस अहम्को भी जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। इस क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ अभिन्नता है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**'(गीता १३।२)।

क्षेत्रका स्वरूप क्या है? इसे भगवान् बताते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३। ५-६)

'मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, मन और इन्द्रियोंके पाँच विषय—यह चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना (प्राणशक्ति) और धृति—ये क्षेत्रके सात विकार हैं।[१] इस प्रकार विकारोंसहित यह क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया है।'

यहाँ भगवान्ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको इदंतासे कहा है—'**एतत् क्षेत्रम्**'।[२] यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति' को भी इदंतासे कह दिया, तो फिर

१-परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर 'इच्छा' और 'द्वेष' सर्वथा मिट जाते हैं। 'सुख' और 'दुःख' अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान तो होता है, पर उससे कोई विकार पैदा नहीं होता। प्रारब्धके अनुसार 'संघात' (शरीर) रहता है, पर उससे मैं-मेरापनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अन्तःकरणसे तादात्म्य न रहनेसे 'चेतना' और 'धृति'-रूप विकारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

२-लोग स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंको सबसे नजदीक ('मैं' रूपसे) मानते हैं, इसलिये भगवान्ने मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदिको '**एतत्**' शब्दके अन्तर्गत लिया है।

अहंकारके '**इदम्**' होनेमें कहना ही क्या है! अहम्से नजदीक महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे नजदीक प्रकृति है, वह प्रकृति भी '**एतत् क्षेत्रम्**' में है। तात्पर्य है कि अहम् (क्षेत्र) हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो मनुष्य स्वयंको और अहम् (प्रकृति)-को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

(गीता १३।२३)

'इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य अलग-अलग जानता है, वह सब तरहका (शास्त्रविहित) बर्ताव करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३।३४)

'इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर (विभाग)-को तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—अहम् मेरा स्वरूप नहीं है—इस बातपर दृढ़ कैसे रहा जाय?

उत्तर—ऐसा प्रश्न तभी उठता है, जब इस बातको अभ्याससाध्य मानें। वास्तवमें यह अभ्याससाध्य नहीं है, प्रत्युत विवेकसाध्य है। विवेकमें दृढ़ता-अदृढ़ता होती ही नहीं, प्रत्युत दृढ़ता ही होती है! अतः अहम् मेरा स्वरूप नहीं है—इस बातपर न दृढ़ रहना है, न अदृढ़ रहना है। यह बात है ही ऐसी—इस तरह इसको स्वीकार कर लेना, जान लेना है। इससे विचलित

नहीं होना है। कारण कि अपने विवेकको महत्त्व देनेसे स्पष्ट दीखता है कि अहम् मेरा स्वरूप नहीं है, प्रत्युत दृश्य है; क्योंकि इसका भान होता है।

स्वरूप जल है, अहम् मिट्टी है और विवेक फिटकरी है। जैसे जलमें मिट्टी मिली हुई हो तो फिटकरी घुमानेसे मिट्टी स्वतः नीचे बैठ जाती है और स्वच्छ जल शेष रह जाता है, ऐसे ही विवेकको महत्त्व देनेसे स्वरूपमें माना हुआ अहम् स्वतः नीचे बैठ जाता है और शुद्ध (निर्विकार) स्वरूप शेष रह जाता है। वास्तवमें अहम् है ही नहीं। अहम् केवल मान्यता (मानी हुई सत्ता) है। जैसा है, वैसा ज्यों-का-त्यों जान लेनेका नाम ही ज्ञान है। है और तरहका, जाने और तरहका—यही अज्ञान है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा०, उद्योग० ४२।३७)

'जो अन्य प्रकारका होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका मानता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस (आत्मघाती) चोरने कौन-सा पाप नहीं किया? अर्थात् सब पाप कर लिये।'

जैसा है, वैसा जाननेमें क्या परिश्रम है? इसमें न कहीं जाना है, न कुछ लाना है, न कुछ करना है। केवल वास्तविक तत्त्वकी ओर लक्ष्य करना है।

८. साधकका कर्तव्य

साधकका मुख्य कर्तव्य है—साधनविरुद्ध कार्य न करना अर्थात् जो कार्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हो, उसका त्याग करना। साधनविरुद्ध कार्यका त्याग करनेपर साधन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है। स्वतः होनेवाले साधनमें कर्तृत्वाभिमान (करनेका अभिमान) नहीं आता। वास्तवमें साधन स्वतःसिद्ध है। साधनविरुद्ध कार्य तो हमने पकड़ा है। जैसे, बालक स्वतः सत्य बोलता है, पर जब वह झूठको स्वीकार कर लेता है अर्थात् झूठ बोलना सीख जाता है, तब उसको सत्य बोलनेके लिये उद्योग करना पड़ता है। उद्योगसे किये गये साधनसे कर्तृत्वाभिमान पैदा होता है। तात्पर्य है कि जैसे साध्य (परमात्मा) अविनाशी है, ऐसे ही साधन भी अविनाशी है*। परन्तु जब साधक साधनको अविनाशी न मानकर कृतिसाध्य (अपने उद्योगसे किया गया) मान लेता है, तब उसमें कर्तृत्वाभिमान आ जाता है।

जो अपना नहीं है, प्रत्युत मिला हुआ है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और जो अनादिकालसे स्वतः अपना है, उसको अपना न मानना साधनविरुद्ध कार्य है। अतः साधनविरुद्ध कार्यके त्यागका तात्पर्य है—जो मिला है, उसको अपना नहीं मानना। कारण कि जो मिला है, वह बिछुड़ेगा—यह नियम है। इसलिये मिले हुएको अपना न मानकर, प्रत्युत संसारका ही मानकर उसका सदुपयोग करना है।

---

* 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। (गीता ४।१)

'इस अविनाशी योगको मैंने सूर्यसे कहा था।'—यहाँ भगवान्‌ने योग (साधन)-को अविनाशी कहा है।

साधकको जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि मिली है, उसका सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग करनेका तात्पर्य है—प्राप्त वस्तु आदिको अपनी न मानकर, प्रत्युत अभावग्रस्तोंकी ही मानकर निःस्वार्थभावसे उनकी सेवामें लगा देना। यह '**कर्मयोग**' है।

साधकको अपनी जानकारीका आदर करना चाहिये, उसको महत्त्व देना चाहिये। अपनी जानकारीको महत्त्व देनेका तात्पर्य है—अपने विवेकसे जैसा जाना है, वैसा मान लेना और वैसा ही आचरण करना। जैसे किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके साथ हमारा सम्बन्ध था नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं और वर्तमानमें भी उससे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है—इस प्रकार साधक अपनेको असंग स्वीकार करे। यह '**ज्ञानयोग** है।

साधकको एकमात्र भगवान्‌पर ही विश्वास करना चाहिये। विश्वास करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के सिवाय दूसरी चीजको भूलकर भी अपना न मानना और उसपर विश्वास, भरोसा न करना।[1] यह '**भक्तियोग**' है।

मिली हुई वस्तु आदिका सदुपयोग करनेकी अपेक्षा उसका दुरुपयोग न करना श्रेष्ठ है।[2] अपनी जानकारीका आदर करनेकी अपेक्षा उसका अनादर न करना श्रेष्ठ है। भगवान्‌पर विश्वास करनेकी अपेक्षा संसारपर विश्वास न करना श्रेष्ठ है। कारण यह है कि विधिकी अपेक्षा निषेध श्रेष्ठ और बलवान् होता है।

१- एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
(दोहावली २७७)

२- मिली हुई वस्तुको अपनी मानना तथा उसको अपने सुखभोगमें लगाना उसका दुरुपयोग है।

विधि सीमित होती है और निषेध (त्याग) असीम होता है। विधिमें कमी रह सकती है और अभिमान भी आ सकता है, पर निषेधमें कोई कमी नहीं रहती और अभिमान भी नहीं आता। जैसे, सत्य बोलनेवाला कभी झूठ भी बोल सकता है और उसको 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ' ऐसा अभिमान भी आ सकता है; परन्तु झूठ न बोलनेवाला सावधान साधक जब भी बोलेगा, सत्य ही बोलेगा अथवा चुप रहेगा और उसको सत्य बोलनेका अभिमान भी नहीं आयेगा।*

अगर साधक प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिका दुरुपयोग न करे तो '**कर्मयोग**' सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ करना बाकी नहीं रहेगा। अगर वह अपनी जानकारीका अनादर न करे तो '**ज्ञानयोग**' सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ जानना बाकी नहीं रहेगा। अगर वह संसारपर विश्वास न करे तो '**भक्तियोग**' सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ पाना बाकी नहीं रहेगा। साधकसे भूल यही होती है कि वह प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिका सदुपयोग न करके अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिकी इच्छा करता है,अपनी जानकारीको महत्त्व न देकर नाशवान्‌को महत्त्व देता है और भगवान्‌पर विश्वास न करके संसारपर विश्वास करता है। इस भूलके कारण उसका करना, जानना और पाना बाकी रहता है अर्थात् उसको पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती।

अगर साधक प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग न करे तो उसमें अपनी जानकारीका आदर करनेकी योग्यता आ जाती है तथा अपनी जानकारीका आदर करनेसे भगवान्‌पर विश्वास करनेकी योग्यता आ जाती है।

---

* इस विषयको भलीभाँति समझनेके लिये '**साधन और साध्य**' नामक पुस्तकमें '**निषेधात्मक साधन**' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमेंसे किसी भी एक साधनकी सिद्धि होनेपर शेष दोनों साधनोंकी सिद्धि स्वतः हो जाती है। परन्तु साधकमें अपने साधनका आग्रह और अभिमान रहेगा तो ऐसा होनेमें कठिनता है! हाँ, यदि साधक अपना आग्रह और अभिमान न रखे तो सच्ची बात स्वतः प्रकट हो जायगी।

साधकको इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि उसके द्वारा कोई साधनविरुद्ध काम न हो। साधनविरुद्ध काम न करनेसे साधककी स्वतः उन्नति होती है और साधनविरुद्ध काम करनेसे साधकका स्वतः पतन होता है। तात्पर्य है कि मनुष्यमें क्रियाका एक वेग रहता है। यदि उसके द्वारा उन्नतिकी क्रिया नहीं होगी तो फिर पतनकी क्रिया होगी। कारण कि स्थिर न रहना, प्रतिक्षण बदलना संसारका स्वभाव है। अतः साधक या तो उन्नतिमें जायगा या पतनमें जायगा। इसलिये साधक किसी भी जाति, वर्ण, आश्रम, मत, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसको साधनविरुद्ध कार्यका त्याग करना ही पड़ेगा* अर्थात् प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग, अपनी जानकारीका अनादर और संसारपर विश्वास—इन तीनोंका त्याग करना ही पड़ेगा। साधनविरुद्ध कार्यके त्यागमें ही उसके साधनकी पूर्णता है।

प्रश्न—साधनविरुद्ध कार्यके मूलमें क्या है?

उत्तर—साधनविरुद्ध कार्यके मूलमें सुखभोगकी आसक्ति है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सुखासक्ति बहुत बाधक है। सुखासक्ति अधिक होनेसे उसका त्याग कठिन, असम्भव दीखता है। परन्तु साधक इस सुखासक्तिके त्यागमें स्वतन्त्र है और विचारपूर्वक

* न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ (गीता ६। २)
'संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता।'

इसका त्याग कर सकता है। वह विचार करे कि मुझे वह सुख लेना है, जिसमें कोई कमी न हो तथा जो कभी नष्ट न हो—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गीता ६।२२-२३)

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको **'योग'** नामसे जानना चाहिये।'

मनुष्यमें विचारकी जितनी शक्ति है, उतनी देवताओंमें भी नहीं है। वह विचार नहीं करता तो यह उसका प्रमाद है, असावधानी है।

सुखभोगसे भोग्य वस्तुका नाश और अपना पतन होता है—यह नियम है। जैसे, रागपूर्वक धनका भोग करते हैं तो धनका नाश और अपना पतन करते हैं। अपनेमें धनका महत्त्व, कामना, लोभ, आसक्ति, जड़ता, गुलामी आदि आना ही अपना पतन है। रागपूर्वक भोजन करते हैं तो अन्नका नाश और अपना पतन करते हैं। अपनेमें भोजनकी आसक्ति बढ़ना ही अपना पतन है।

सांसारिक सुखभोगका तो कहना ही क्या है, साधनजन्य सुखका भोग करनेसे भी साधकका पतन हो जाता है! जैसे, त्यागसे जो शान्ति मिलती है, उस शान्तिका उपभोग करनेसे वह त्याग नहीं रहता और साधकका पतन हो जाता है। कारण कि

साधनजन्य सुखके भोगसे मरा हुआ अहंकार भी जीवित हो जाता है अर्थात् व्यक्तित्व जाग्रत् हो जाता है और दृढ़ हो जाता है, जो कि महान् अनर्थका, जन्म-मरणका हेतु है। जबतक अपनेमें अच्छेपनका भाव रहता है, अपनेमें कोई विशेषता दीखती है, तबतक व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् अपनेमें एकदेशीयपना रहता है। अतः साधनमें ऊँची स्थिति होनेपर भी तथा अपनेमें जीवन्मुक्त या गुणातीत-अवस्थाकी मान्यता होनेपर भी उसका सुख नहीं भोगना चाहिये। इस विषयमें साधकको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

९. विवेककी जागृति

मानवशरीरकी महिमा विवेकके कारण ही है। विवेक प्राणिमात्रमें है; परन्तु जिससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकें, ऐसा (सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका) विवेक मनुष्यमें ही है। यह विवेक कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवत्प्रदत्त है। यह बुद्धिमें आता है, बुद्धिका गुण नहीं है। अतः बुद्धि तो कर्मानुसारिणी होती है, पर विवेक कर्मानुसारी नहीं होता। अगर विवेकको पुण्य-कर्मोंका फल मानें तो यह शंका पैदा होगी कि बिना विवेकके पुण्यकर्म कैसे हुए? कारण कि ये पुण्यकर्म हैं और ये पापकर्म हैं—ऐसा विवेक पहले होनेपर ही मनुष्य पापोंका त्याग करके पुण्यकर्म करता है। अतः विवेक पुण्यकर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत यह पुण्यकर्मोंका कारण और अनादि है।

लौकिक पदार्थोंकी प्राप्ति तो क्रियासे होती है, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति विवेकसे होती है। मुक्त करनेकी शक्ति विवेकमें है, क्रियामें नहीं। अगर मनुष्यमें विवेककी प्रधानता हो तो वह प्रत्येक देशमें, प्रत्येक कालमें, प्रत्येक अवस्थामें, प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है। कारण कि परमात्मतत्त्वसे कभी किसीका वियोग नहीं है। अतः मनुष्यका खास काम है—प्राप्त विवेकका आदर करना, उसको महत्त्व देना। विवेकका आदर करनेसे वह विवेक ही बढ़कर तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है।

प्रश्न—अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना विवेकका आदर कैसे होगा?

उत्तर—विवेक अन्तःकरणकी शुद्धिके आश्रित नहीं है, प्रत्युत अन्तःकरणकी शुद्धि विवेकके आश्रित है। विवेक अनादि

तथा अनन्त है और अन्तःकरणकी अशुद्धि सादि और सान्त है। विवेक असीम है और अशुद्धि सीमित है। विवेक स्वतःसिद्ध है, अशुद्धि स्वतःसिद्ध नहीं है। विवेक नित्य है, अशुद्धि अनित्य है। नित्यको अनित्य कैसे ढक सकता है? जडताका महत्त्व ही अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाली चीज है। अतः विवेकको महत्त्व देनेसे अन्तःकरण स्वतःशुद्ध हो जाता है।

शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। कारण कि शुद्ध करनेसे अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक 'मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय'—यह भाव रहेगा, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ममता ही अशुद्धिका कारण है—*'ममता मल जरि जाइ'* (मानस ७। ११७ क)। इसलिये गीताने अन्तःकरणके साथ ममता न रखनेकी बात कही है; जैसे—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(५। ११)

'कर्मयोगी आसक्तिका त्याग करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल अर्थात् ममतारहित इन्द्रियाँ-शरीर-मन-बुद्धिके द्वारा कर्म करते हैं।' कारण कि ममता-आसक्ति रखनेसे कर्म होते हैं, कर्मयोग नहीं होता।

विवेकके बिना केवल क्रियासे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती*। शक्ति विवेकमें है, क्रियामें नहीं। क्रिया करनेमें करणकी

---

* अन्तःकरणकी शुद्धि क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत भाव और विवेकसे होती है। इसलिये कर्मयोगमें निष्कामभावसे, ज्ञानयोगमें विवेकसे और भक्तियोगमें प्रेमभावसे अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जाता है। सकामभावसे की गयी क्रियासे भी अन्तःकरणमें एक तरहकी शुद्धि आती है, पर वह शुद्धि उस क्रियाका फल भोगनेमें ही काम आती है, पारमार्थिक उन्नतिमें काम नहीं आती।

मुख्यता रहेगी तो करणका आदर होगा। करणका आदर (महत्त्व) ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है।

अन्तःकरणकी अशुद्धि वास्तवमें कर्ताकी अशुद्धि है; क्योंकि कर्ताका दोष ही करणमें आता है। जैसे, मनुष्य चोरी करनेसे चोर नहीं बनता, प्रत्युत चोर बनकर चोरी करता है। चोरी करनेसे उसका चोरपना दृढ़ होता है। अगर कर्ताकी नीयत शुद्ध हो तो वह चोरी नहीं कर सकता। अतः करणको शुद्ध करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कर्ताको शुद्ध होनेकी आवश्यकता है। अगर करणको शुद्ध करेंगे तो परिणाममें क्रिया शुद्ध होगी, कर्ता कैसे शुद्ध होगा? जैसे, कलम बढ़िया होगी तो लेखन-कार्य बढ़िया होगा, लेखक कैसे बढ़िया हो जायगा? कर्ता शुद्ध होता है—अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है—विवेकका आदर करनेसे।

एक मार्मिक बात है कि अन्तःकरण अशुद्ध होनेपर भी विवेक जाग्रत् हो सकता है। इसीलिये गीतामें आया है कि पापी-से-पापी और दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी ज्ञान और भक्ति प्राप्त कर सकता है*। तात्पर्य है कि अपने कल्याणका दृढ़ उद्देश्य हो जाय तो पूर्वकृत पाप विवेककी जागृतिमें बाधक नहीं हो सकते। पाप तभी बाधक हो सकते हैं, जब विवेक कर्मोंका फल हो। परन्तु विवेक कर्मोंका फल है ही नहीं । कर्मोंके साथ विवेकका सम्बन्ध है ही

---

* अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४।३६)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

नहीं। अतः विवेकका पापोंसे विरोध नहीं है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपने विवेकको जाग्रत् करे।

प्रश्न—विवेक कैसे जाग्रत् होता है?

उत्तर—विवेक दो चीजोंसे जाग्रत् होता है—सत्संगसे* और दुःख (आफत)-से। सत्संग परमात्मामें लगाता है और दुःख संसारसे हटाता है। परमात्मामें लगना भी योग है '**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८) और संसारसे हटना भी योग है '**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६।२३)।

रामचरितमानसमें आया है—'***बिनु सतसंग बिबेक न होई***' (१।३।४) इसका तात्पर्य यह है कि सत्संगके बिना विवेक जाग्रत् नहीं होता। सत्संगसे बहुत विलक्षण लाभ होता है और स्वाभाविक शुद्धि होती है—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

'संतोंके संगसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिका क्रमशः विकास होगा।'

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(मानस ७।६१)

केवल सत्संगसे, सन्तोंकी आज्ञाका पालन करनेसे साधकको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३।२५)

* सच्छास्त्रोंका अध्ययन करना भी सत्संग है।

'दूसरे जो मनुष्य इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंको नहीं जानते, प्रत्युत केवल जीवन्मुक्त महात्माओंसे सुनकर उपासना करते हैं अर्थात् उनके वचनोंको महत्त्व देते हैं तथा उसके अनुसार अपना जीवन बनाते हैं, ऐसे वे सुननेके परायण मनुष्य भी मृत्युको तर जाते हैं।'

अतः जहाँतक बने, साधकको सत्संग नहीं छोड़ना चाहिये और कुसंगसे बचना चाहिये। सत्संगसे जितना लाभ होता है, उतनी ही कुसंगसे हानि होती है। परन्तु दोनोंमें फर्क है। कुसंगसे होनेवाली हानि तो फल देकर नष्ट हो जाती है, पर सत्संगसे होनेवाला लाभ (विवेक) फल देकर नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह सत् है और सत् कभी मिटता नहीं—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)।

संसारकी एक चाल है कि वह विश्वासघात करता ही है। वास्तवमें उससे विश्वासघात होता है, वह करता नहीं। कारण कि जीव संसारको सुखदायी समझकर उसकी तरफ आकृष्ट होता है, पर वह दुःखदायी सिद्ध होता है! इस प्रकार जब विश्वासघात होता है, तब हृदयमें एक रेख आती है कि 'संसारमें मेरा कोई नहीं'! यह रेख ही मनुष्यको साधनमें लगा देती है, उसका विवेक जाग्रत् करा देती है।

दुःख आनेपर भी यदि सुखकी इच्छा रहेगी तो विवेक जाग्रत् नहीं होगा; क्योंकि सुखकी इच्छा महान् दोषी है। सुखके द्वारा दुःख दूर करनेकी इच्छा होनेपर दुःखकी वृद्धि ही होती है। कारण कि वास्तवमें सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। अतः दुःख आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करना चाहिये और दुःखके कारणकी खोज करनी चाहिये। सुखकी इच्छाका त्याग करनेपर और दुःखके कारणकी खोज करनेपर विवेक जाग्रत् हो जाता है।

१०. भोग और योग

साधकोंके सामने प्रायः यह समस्या आती है कि हम जप करते हैं, पाठ करते हैं, सत्संग करते हैं, विचार करते हैं, चिन्तन करते हैं, ध्यान करते हैं, तीर्थ-व्रतादिक करते हैं, फिर भी तत्त्वका अनुभव नहीं हो रहा है, वास्तविक स्थिति नहीं हो रही है, क्या कारण है? कहाँ और क्या बाधा लग रही है? इस समस्याका मूल कारण है—संयोगजन्य सुखकी लोलुपता। विनाशी वस्तुके सम्बन्धसे होनेवाला जो सुख है, उस सुखकी जो लोलुपता है, भीतरमें जो इच्छा है कि यह सुख मिले, यह सुख बना रहे, यह सुख बढ़ता रहे—यही खास बाधा है। इसीके कारण वास्तविक स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा है।

सुखका आना खराब नहीं है, प्रत्युत सुखका भोग और उसकी इच्छा खराब है। यह सुखकी इच्छा बहुत दूरतक साधकके लिये बाधक होती है। जहाँ उसने सुख भोगा, वहीं बाधा लग जायगी! संयोगजन्य सुखसे अतीत जो समताका, शान्तिका सुख है, उसका भी यदि साधक भोग करेगा तो वह आंशिक समता, शान्ति भी स्थायी नहीं रहेगी, प्रत्युत आती-जाती रहेगी। कारण कि साधनजन्य सात्त्विक सुखका भोग भी बाँधनेवाला है—**'सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ'** (गीता १४।६)। साधनजन्य सुखका ज्ञान बाँधनेवाला नहीं होता, प्रत्युत उसका भोग बाँधनेवाला होता है। साधनजन्य सुखमें राजी होना, उसके कारण अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता देखना भोग है। यह सिद्धान्त है कि हम जिस चीजका भोग करते हैं, वह चीज नष्ट हो जाती है और हमारा पतन होता है; जैसे—धनका भोग करनेसे धन नष्ट (खर्च) हो जाता है और हमारा पतन होता है अर्थात् आदत बिगड़ती है।

संसारमें सुख भी आता है और दुःख भी; क्योंकि सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता संसारका स्वरूप है। परंतु हमें न सुखका भोग करना है, न दुःखका। कारण कि सुखी होना भी बन्धन है और दुःखी होना भी बन्धन है। अगर सुखी-दुःखी होना ही हो तो सुखमें भी सुखी हों और दुःखमें भी सुखी हों तो ठीक हो जायगा अथवा सुखमें भी दुःखी हों और दुःखमें भी दुःखी हों तो ठीक हो जायगा। सुखमें भी सुखी और दुःखमें भी सुखी होनेका तात्पर्य है कि चाहे सुख आये, चाहे दुःख आये, दोनोंसे अपना कोई मतलब न रखें, उनसे निर्लिप्त रहें। सुखमें भी दुःखी और दुःखमें भी दुःखी होनेका तात्पर्य है कि सुखमें सुखी हो जानेपर यह दुःख हो जाय कि मैं सुखी क्यों हो गया अर्थात् मेरेपर सुखका असर क्यों हो गया? और दुःखमें दुःखी हो जानेपर यह दुःख हो जाय कि मैं दुःखी क्यों हो गया? तात्पर्य है कि जिस किसी तरह अपनेमें समता और निर्लिप्तता आनी चाहिये।

वास्तवमें भोग ही योगमें बाधक है। अतः न तो सुखका भोग करना है और न दुःखका ही भोग करना है। जब हम सुख और दुःख दोनोंमें सम रहेंगे, प्रसन्न रहेंगे, तब सुख-दुःखका भोग नहीं होगा। अतः जैसे सुख आनेपर प्रसन्नता होती है, ऐसे ही दुःख आनेपर भी प्रसन्नता होनी चाहिये। बीमारीमें, घाटा लगनेमें, प्रियकी मृत्युमें भी प्रसन्नता होनी चाहिये और ऐसा हो सकता है! दुःखमें भी सुख हो सकता है। तेज बुखार चढ़े, शरीरमें पीड़ा हो तो उसमें भी आनन्द हो सकता है। अपमान हो जाय, घाटा लग जाय तो उसमें भी आनन्द हो सकता है। अगर यह बात समझमें आ जाय तो बड़े भारी लाभकी बात है! अनुकूलतामें सुखी और प्रतिकूलतामें दुःखी तो पशु, पक्षी, भूत,

प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि भी होते हैं। अगर यही दशा हमारी भी है तो मनुष्य-शरीरकी क्या विशेषता हुई! हमारेमें और पशुओंमें क्या फर्क हुआ? अतः हमें प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसन्न रहना है। सुख आनेपर भी प्रसन्न रहना है और दुःख आनेपर भी प्रसन्न रहना है—'**मनःप्रसादः सौम्यत्वम्**' (गीता १७। १६)।

प्रश्न—दुःख आनेपर भी प्रसन्न कैसे रहें!

उत्तर—जैसे, पैरमें काँटा गड़ जाय तो उसको लोहेके काँटेसे ही निकालते हैं। इसलिये काँटा निकालते समय बड़ी पीड़ा होती है। परन्तु 'काँटा निकल रहा है'—इस बातको लेकर उस पीड़ामें भी सुखका अनुभव होता है। प्रसवके समय स्त्रीको बहुत पीड़ा होती है। सन्तोंने भी लिखा है—***'बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा'*** (मानस १। ९७। २)। परन्तु उस समय भी जब वह सुनती है कि 'लड़का जन्मा है', तब उसको उस पीड़ामें भी प्रसन्नताका अनुभव होता है। हम कर्जा चुकाते हैं तो घरसे पैसे देने पड़ते हैं, पर 'कर्जा उतर गया' इस बातसे बड़ी प्रसन्नता होती है। घरसे सौ रुपये निकल जायँ तो दुःख होता है, पर सौ रुपये निकलनेपर कर्जा उतरता हो तो भले आदमीको बड़ा सुख होता है कि बहुत अच्छा हुआ! इससे सिद्ध हुआ कि दुःखमें भी सुखका अनुभव हो सकता है।

पाप-पुण्यकी दृष्टिसे विचार करें तो दुःखमें पापोंका नाश होता है और सुखमें पुण्योंका। विचार करें कि हम पापोंका नाश चाहते हैं या पुण्योंका? कोई भी यह नहीं चाहता कि मेरे पुण्योंका नाश हो जाय। सभी यह चाहते हैं कि हमारे पाप नष्ट हो जायँ। जो भी दुःख आता है, कष्ट आता है, उससे पुराने पापोंका नाश होता है और नयी सावधानी होती है—यह बिलकुल सच्ची बात है। जितनी प्रतिकूलता आती है, उतना ही

पापोंका नाश होता है। पापोंका नाश होनेपर तो प्रसन्नता होनी चाहिये!

जितनी दुःखदायी परिस्थिति आती है, उतना ही अन्तःकरण निर्मल होता है—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। कोई आदमी बहुत अधिक बीमार हो जाय और फिर ठीक हो जाय तो ठीक होनेके बाद जब वह सत्संगकी बातें सुनता है, तब वह गद्गद हो जाता है, उसकी आँखोंसे आँसू आने लगते हैं। कारण यह है कि रोगका कष्ट भोगनेसे उसके पाप नष्ट हुए हैं और अन्तःकरण निर्मल हुआ है, जिससे उसपर सत्संगकी बातोंका बड़ा असर होता है। जैसे शरीर नीरोग होता है तो भूख लगती है। भूख लगनेपर रूखी रोटी भी बड़ी अच्छी लगती है और बल देनेवाली होती है। भूख नहीं हो तो बढ़िया भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उसका रस भी नहीं बनता और वह बल भी नहीं देता। ऐसे ही कष्ट भोगनेपर पापोंका नाश होता है और परमात्माकी भूख लगती है। भूख लगनेपर पारमार्थिक बातें, सत्संगकी बातें बड़ी अच्छी लगती हैं और जीवनमें आती हैं।

दुःखमें मनुष्यका विकास होता है। ऐसे बहुत कम शूरवीर आदमी मिलेंगे, जिन्होंने सुखमें विकास कर लिया। प्रायः दुःखमें विकास करनेवाले साधक ही मिलते हैं। कारण कि दुःखमें विकास होना सुगम है। सुखमें विकास नहीं होता, प्रत्युत विनाश होता है; क्योंकि इसमें पुराने पुण्य नष्ट होते हैं और सुखभोगमें उलझ जानेके कारण आगे उन्नति नहीं होती। जो प्रतिकूलता आनेपर भी साधन करता रहता है, वह अनुकूलतामें भी सुगमतापूर्वक साधन कर सकता है। परन्तु जो अनुकूलतामें ही साधन करता है, उसके सामने यदि प्रतिकूलता आ जाय तो वह साधन नहीं कर सकता। इसलिये गृहस्थका उद्धार जल्दी होता

है, पर साधुका उद्धार जल्दी नहीं होता। कारण कि साधु तो थोड़ी भी प्रतिकूलता सह नहीं सकता और प्रतिकूलता आनेपर कमण्डलु उठाकर चल देता है, पर गृहस्थ प्रतिकूलता आनेपर कहाँ जाय? वह माँ-बाप, स्त्री-पुत्रको कैसे छोड़े? अतः वह वहीं बँधा रहता है और प्रतिकूलता सह लेता है। प्रतिकूलता सहनेसे उसकी सहनशक्ति बढ़ जाती है। जो थोड़ी भी प्रतिकूलता नहीं सह सकता, वह उन्नति कैसे करेगा? वह तो कायर ही रहता है, शूरवीर नहीं हो सकता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(२। १४)

'हे कौन्तेय! इन्द्रियोंके जो विषय (जड पदार्थ) हैं, वे अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भारत! उनको तुम सहन करो।'

सहन करनेसे क्या होगा? इसको बताते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श (पदार्थ) व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर होनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणसे रहित हो जाता है।'

सुखमें सुखी होना और दुःखमें दुःखी होना—दोनों ही व्यथा है। अतः सुखमें सुखी नहीं होना और दुःखमें दुःखी नहीं होना

अर्थात् सुख-दुःखमें सम रहना ही सुख-दुःखको सहना है। जो सुखी-दुःखी हो गया, उससे सुख भी नहीं सहा गया और दुःख भी नहीं सहा गया।

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं।
दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥

(मानस २।१५०।४)

भगवत्कृपाकी दृष्टिसे विचार करें तो दुःखमें भगवान्‌की कृपा अधिक होती है। जैसे, बच्चे खेल रहे हों और किसी माँके मनमें भाव आ जाय तो वह सब बच्चोंको लड्डू दे सकती है। परन्तु बच्चे शरारत करें तो वह सबको थप्पड़ नहीं लगा सकती, प्रत्युत अपने बच्चेको ही थप्पड़ लगा सकती है। तात्पर्य है कि थप्पड़ लगानेमें जितना अपनापन है, लड्डू देनेमें उतना अपनापन नहीं है। इसी तरह दुःख आनेपर ऐसा सोचें कि भगवान्‌का मेरेपर अपनापन है। अपनापन जितना सुखदायी है, उतना थप्पड़ (दुःख) दुःखदायी नहीं है। यदि अपनेपनको देखें तो दुःख भी आनन्द देनेवाला हो जाता है! अतः दुःख आनेपर आनन्द मनाना चाहिये कि भगवान्‌ने बड़ी कृपा कर दी!

विवेककी दृष्टिसे विचार करें तो एक सीधी-सरल बात है कि सुखमें भी हम रहते हैं और दुःखमें भी हम रहते हैं, अतः सुख-दुःखको न देखकर अपने स्वरूपको देखें कि हम स्वयं तो वही हैं। सुख-दुःख आनेपर हम तो एक ही रहे, हमारा क्या बिगड़ा? जो सुखके समय हम थे, वे ही दुःखके समय हम हैं और जो दुःखके समय हम थे, वे ही सुखके समय हम हैं। हमारा स्वरूप सुख और दुःख दोनोंमें सम है—‘**समदुःखसुखः स्वस्थः**’(गीता १४। २४)। सुख और दुःख तो आने-जानेवाले हैं, पर स्वरूप कहीं आने-जानेवाला नहीं है, प्रत्युत ज्यों-का-

त्यों स्थित है। न सुख रहता है और न दुःख रहता है, पर हम स्वरूपसे वैसे-के-वैसे ही रहते हैं; फिर आने-जानेवालोंको लेकर हम सुखी-दुःखी क्यों हों? यदि हमारेपर सुख-दुःखका असर पड़ गया, हम सुखी-दुःखी हो गये, आगन्तुक विकारोंमें बँध गये, तो फिर हमारी स्थिति स्वरूपमें नहीं रही। हम स्वस्थ नहीं रहे, प्रत्युत अस्वस्थ हो गये!

जैसे, हम दरवाजेपर खड़े हैं। हमारे सामने रास्तेपर मोटरें आ गयीं तो हम प्रसन्न हो गये और मोटरें नहीं आयीं तो दुःखी हो गये तो यह कितनी मूर्खताकी बात है? मोटर आ गयी तो हमें क्या मिल गया? मोटर नहीं आयी तो हमारा क्या नुकसान हो गया? ऐसे ही घरमें बेटा आ गया तो क्या हो गया? और बेटा मर गया तो क्या हो गया? सब आने-जानेवाले हैं। अतः मनुष्यमात्रमें यह विवेक जाग्रत् रहना चाहिये कि सुख और दुःख आने-जानेवाले हैं और हम स्वरूपसे रहनेवाले हैं। रहनेवाला आने-जानेवालोंसे सुखी-दुःखी क्यों हो? इसलिये चाहे पाप-पुण्यकी दृष्टिसे देखें, चाहे भगवत्कृपाकी दृष्टिसे देखें और चाहे विवेककी दृष्टिसे देखें, हमें सुखी-दुःखी नहीं होना है।

सुखी-दुःखी न होनेका उद्देश्य बननेके बाद अगर सुख-दुःखका असर पड़ भी जाय तो साधकको डरना नहीं चाहिये और अपनी हार स्वीकार नहीं करनी चाहिये। असर पड़ गया तो पड़ गया, उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। पूर्वसंस्कारसे सुख-दुःख होता है तो वह आता नहीं है, प्रत्युत मिटता है। साधकको दृढ़ विचार कर लेना चाहिये कि सुखका असर पड़ गया तो पड़ गया, पर मेरेको सुख नहीं भोगना है। दुःखका असर पड़ गया तो पड़ गया, पर

मेरेको दुःख नहीं भोगना है। मुझे भोगी नहीं बनना है, प्रत्युत योगी बनना है। सुख-दुःखमें सुखी-दुःखी होना भोग है और सुखी-दुःखी न होकर सम रहना योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। अगर साधकका यह दृढ़ विचार हो जाय कि संसारके संयोग-वियोगको लेकर मुझे सुखी-दुःखी नहीं होना है तो फिर ऐसा ही होने लग जायगा! कारण कि वास्तविक तत्त्व सुख और दुःख दोनोंसे रहित है। वहाँ न सुख है, न दुःख, प्रत्युत एक स्वतःसिद्ध स्वाभाविक आनन्द है। इस आनन्दको ही गीताने 'अक्षय सुख' नामसे कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

'बाह्यस्पर्श (नाशवान् पदार्थ)-में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मा (अन्तःकरण)-में जो सात्त्विक सुख है, उसको प्राप्त होता है। फिर वह ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य अक्षय सुखका अनुभव करता है।'

११. उद्देश्यकी दृढ़तासे लाभ

मनुष्यजन्मका उद्देश्य क्या है, हमारे जीवनका लक्ष्य क्या है—इसको जानना बहुत आवश्यक है। जैसे, कोई आदमी अपने घरसे तो निकल जाय, पर कहाँ जाना है—इसका पता ही न हो तो क्या दशा होती है? वह किसीसे पूछे कि मुझे मार्ग बताओ। कहाँका बतायें? कहींका बता दो! तो फिर कहीं चले जाओ, बतानेकी जरूरत क्या है? अगर यह उद्देश्य बन जाय कि हमें बद्रीनारायण जाना है तो फिर उसका मार्ग भी मिल जायगा, वहाँ जानेके साधन भी मिल जायँगे और बतानेवाला भी मिल जायगा। कहाँसे जाना है, कैसे जाना है, पैदल जाना है कि मोटरसे, यह सब तो बादमें हो जायगा, पर 'हमें बद्रीनारायण जाना है'—यह विचार तो पहले ही खुदका होना चाहिये। ऐसे ही मनुष्यजन्मका मूल उद्देश्य भगवान्‌की प्राप्ति करना है। परन्तु मनुष्यजन्म पाकर भी इस उद्देश्यको न पहचाननेके कारण मनुष्य पतनके मार्गपर जा रहा है!

यह मनुष्यजन्म बहुत जन्मोंके अन्तमें मिलता है—

'लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते' (श्रीमद्भा० ११। ९। २९)

'बहूनां जन्मनामन्ते' (गीता ७। १९)

एक मार्मिक बात है कि यह मनुष्यजन्म सब जन्मोंका आदि जन्म भी है और अन्तिम जन्म भी है। जन्मोंका आरम्भ भी मनुष्यजन्मसे हुआ है और उनका अन्त भी मनुष्यजन्ममें ही होगा। जन्मोंका आरम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, किसने किया आदि बातोंको जान भी नहीं सकते और जाननेकी जरूरत भी नहीं है। परन्तु जन्मोंका अन्त कर सकते हैं और अन्त करनेकी जरूरत भी है। गीतामें आया है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(८। ६)

'हे कौन्तेय! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकाल)-के भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

—इस बातसे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यजन्म मिलनेके बाद आगेका जन्म हम तैयार करते हैं—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। तात्पर्य है कि जन्ममरणमें जानेके लिये अथवा उससे मुक्त होनेके लिये हम स्वतन्त्र हैं। अगर हमें सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त होना है तो इसके लिये सबसे मुख्य बात यह है कि हमारा एकमात्र उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति हो। अपना कल्याण करना है, जीवन्मुक्त होना है, मुक्ति प्राप्त करनी है, विदेह कैवल्य प्राप्त करना है, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटना है, दुःखोंका अत्यन्त अभाव करना है, महान् आनन्दको प्राप्त करना है, परतन्त्रतासे छूटकर परम स्वतन्त्रताको प्राप्त करना है, भगवान्‌के दर्शन करना है, भगवत्प्रेम प्राप्त करना है—ये अलग-अलग नाम साधनके अनुसार हैं, पर तत्त्वसे एक ही हैं। साधन अलग-अलग हैं, पर उद्देश्य सबका एक ही है। वह उद्देश्य जितना दृढ़ होगा, उतना ही मनुष्य स्वतः आगे बढ़ जायगा।

जैसे भाई-बहन सत्संगमें आते हैं तो सबसे पहले उनका यह विचार होता है कि हमें सत्संगमें चलना है। फिर किस तरह चलना है, बससे चलना है, टैक्सीसे चलना है, साईकिलसे चलना है या पैदल चलना है—यह सब प्रबन्ध हो जाता है। सत्संगमें जानेके लिये तो दूसरेकी सहायता भी ले सकते हैं; पर वहाँ जानेका विचार तो खुदको ही करना पड़ेगा। ऐसे ही हमारा यह विचार बन जाय कि अब हमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनी है। दूसरे लोग क्या करते हैं, क्या नहीं करते—इससे हमारा कोई मतलब न रहे।

तेरे भावें जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
नारायन तू बैठि कै, अपनौ भुवन बुहार॥

संसार अच्छा करे या बुरा करे, हमें उससे क्या मतलब? हमें तो अपना असली काम करना है। परमात्मप्राप्तिके सिवाय कोई भी काम स्थायी नहीं है। कोई धन कमाता है, कोई यश कमाता है, कोई शरीरको ठीक करता है, कोई नीरोगताके पीछे लगा है, पर ये काम सिद्ध होनेवाले नहीं हैं। अगर हो भी जायँ तो इन सबका अन्त होगा। परन्तु परमात्मप्राप्ति होगी तो वह सदाके लिये होगी, उसका अन्त नहीं होगा।

एक मार्मिक बात है कि सब-के-सब मनुष्य परमात्मप्राप्तिके अधिकारी हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३०—३३)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत श्रेष्ठ और अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान्‌के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। इसलिये इस अनित्य और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तू मेरा भजन कर।'

यहाँ भगवान्‌ने परमात्मप्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी मनुष्य नहीं है। कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो, कैसा ही आचरण हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान्‌की प्राप्तिमें सब अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका नाम आ गया। कोई चारों वर्णोंमें केवल पुरुष-ही-पुरुष न समझ ले, इसलिये स्त्रियोंका नाम अलगसे आया है। जो चारों वर्णोंसे नीचे हैं, वे यवन, हूण, खस् आदि सब पापयोनिमें आ गये*। मनुष्योंके सिवाय दूसरे जीव (पशु, पक्षी

---

* किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंकायवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि अधम जातिके लोग और इनके सिवाय अन्य पापीलोग भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

जैसे भगवान्‌ने पापी-से-पापी व्यक्तिको भी भक्तिका अधिकारी बताया है, ऐसे ही उसको ज्ञानका अधिकारी भी बताया है; जैसे—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (गीता ४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

आदि) भी 'पापयोनि' में लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) किसीके लिये भी मना नहीं है। जो वर्तमानमें पाप कर रहा है, वह 'दुराचारी' है और पूर्वजन्मके पापोंके कारण जिसका नीच योनिमें जन्म हुआ है, वह 'पापयोनि' है। तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। जो पूर्वजन्मके पुण्यात्मा हैं, उनको पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण कहा और जो इस जन्ममें पुण्यात्मा हैं, उनको ऋषिस्वरूप क्षत्रिय कहा, ऐसे ही जो पूर्वजन्मके पापी हैं, उनको पापयोनि कहा और जो इस जन्ममें पापी हैं, उनको सुदुराचारी कहा। ये सभी प्रकारके मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। यह मनुष्यशरीर भजन करनेके लिये है सुखभोगके लिये नहीं—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस ७। ४४। १)। भजन करनेके लिये ही सबसे पहला काम है—अपने उद्देश्यको पहचानना। उद्देश्यकी दृढ़ता होनेपर उसकी पूर्तिकी सामग्री अपने-आप मिलेगी।

'**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा**'—इसके बीचमें '**भक्ताः**' पद आया है, जिसका तात्पर्य है कि पवित्र आचरणवाले ब्राह्मणोंकी और ऋषिस्वरूप क्षत्रियोंकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनमें जो भक्ति है, उस भक्तिकी महिमा है। इसलिये भगवान्‌ने पहले ही कह दिया—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें न तो कोई

मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का न तो दुराचारी तथा पापयोनिके साथ द्वेष है और न पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके साथ स्नेह है। वे तो सब प्राणियोंमें समान हैं। परन्तु जो भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्‌से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये भगवान्‌ने भजन करनेकी आज्ञा दी है—'**भजस्व माम्**'। परन्तु यह तभी सिद्ध होगा, जब हमारा यह दृढ़ उद्देश्य होगा कि हमें इसी जन्ममें परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है।

यह कितनी विलक्षण बात है कि हम कैसे ही हों, पर भगवत्प्राप्तिके लिये हम सब-के-सब अधिकारी हैं। भगवान्‌ने कितनी छूट दी है! भगवान्‌ने भजन करनेके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो फिर भजन करनेकी सामग्री भी बचाकर नहीं रखी है, अन्यथा '**ये भजन्ति तु मां भक्त्या**' और '**भजस्व माम्**' कैसे कहते? हम भी भगवान्‌से कह सकते थे कि महाराज! आपने हमारेको साधन-सामग्री दी ही नहीं, हमारी सहायता की ही नहीं, फिर हम भजन कैसे करें? पर हम ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि भगवान्‌ने सबको भजनकी पूरी साधन-सामग्री दी है। जैसे, कहीं सत्संगका आयोजन होता है तो पहले उसकी तैयारी करते हैं, बादमें लोगोंको निमन्त्रण देते हैं। पण्डाल पहले बनता है, लोगोंको बादमें बुलाते हैं। ऐसे ही भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दिया है तो अपनी प्राप्तिकी सामग्री पहले दी है। भगवान्‌ने दुराचारी-से-दुराचारी तथा पापयोनिको भी अपनी प्राप्तिका निमन्त्रण दिया है और

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्रियोंको भी अपनी प्राप्तिका निमन्त्रण दिया है। अब जरूरत इस बातकी है कि हम अपना उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका बना लें।

संसारमें बिना स्वार्थके सबका हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त।

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७। ४७। ३)

परोक्षरूपसे सबका हित करनेवाले भगवान् हैं और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दोनों रूपसे सबका हित करनेवाले सन्त-महात्मा हैं। भगवान्में एक विलक्षणता और भी है कि वे सब कुछ देकर भी लेनेवालेको उसका पता नहीं लगने देते। इस ढंगसे देते हैं कि लेनेवाला उन वस्तुओंको अपनी ही समझने लगता है। यह विलक्षणता एक नम्बरमें भगवान्में है और दो नम्बरमें सन्तोंमें। भगवान् और सन्त बिना हेतु सबका उपकार करते हैं, किसी हेतुको लेकर नहीं। वे किसी देश, वेश, व्यक्ति, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका पक्षपात न करके स्थावर-जंगमरूप मात्र जगत्का उपकार करते हैं। ऐसे परम उपकारी भगवान्ने कृपा करके मानव-जीवनका समय दिया है, सामग्री दी है, समझ दी है और सामर्थ्य दी है। ये चारों चीजें भगवान्ने केवल जीवमात्रके उद्धारके लिये दी हैं।

समय, सामग्री, समझ और सामर्थ्य—ये चारों सबके पास बराबर नहीं हैं; किसीके पास कम हैं, किसीके पास ज्यादा। परन्तु एक मार्मिक बात है कि हमारे पास जितना समय है, जितनी सामग्री है, जितनी समझ है और जितनी सामर्थ्य है, उतनी भगवान्में लगा दें तो पूर्णता प्राप्त हो जायगी, भगवान्की

प्राप्ति हो जायगी। साधकसे गलती यह होती है कि वह प्राप्त सामग्री आदिका सदुपयोग न करके और अधिक (नयी-नयी) सामग्री आदिकी इच्छा करता है, उसको और अधिक बढ़ाना चाहता है। वह सामग्री आदिको जितना महत्त्व देता है, उतना भगवान्‌को महत्त्व नहीं देता। सामग्री आदिको महत्त्व देना भगवत्प्राप्तिमें बाधक होता है। अतः हमें जो समय, सामग्री आदि मिली है, उसीसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। अगर कोई कमी रह जायगी तो उसकी पूर्ति भगवान् कर देंगे। भगवान्‌का दरबार सबके लिये सब समय खुला है—***'यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई'*** (विनय० १६५।५)। हमारेमें जिस चीजकी कमी होगी, आवश्यकता पड़नेपर उसकी पूर्ति भी हो जायगी। जैसे, चलते-चलते थक जाते हैं तो बिना कुछ उद्योग किये, चुपचाप पड़े-पड़े पुनः चलनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है—यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है। सदुपयोगसे शक्ति बढ़ती है और दुरुपयोगसे नष्ट होती है।

एक शंका होती है कि भगवान्‌ने हमें समय, समझ, सामग्री आदि सब कुछ तो दे दिया, पर स्वतन्त्रता क्यों दी? इस स्वतन्त्रताका हम सदुपयोग भी कर सकते हैं और दुरुपयोग भी कर सकते हैं; पाप भी कर सकते हैं और पुण्य भी कर सकते हैं; बन्धनमें भी जा सकते हैं और मुक्तिमें भी जा सकते हैं, सब कुछ कर सकते हैं। अतः जिससे हम अपना पतन कर लें, ऐसी स्वतन्त्रता भगवान्‌ने क्यों दी? इसका समाधान यह है कि अगर भगवान् मनुष्यको परतन्त्र बना देते तो मनुष्यशरीरका कुछ महत्त्व ही नहीं रहता। उत्तम-से-उत्तम शरीर गायका है, जिसका गोबर और गोमूत्र भी शुद्ध होता है; परन्तु वह भगवान्‌का भजन-स्मरण नहीं कर सकती; क्योंकि वह केवल भोगयोनि है। अगर भगवान्

मनुष्यको स्वतन्त्रता नहीं देते तो वह भी सदाके लिये भोगयोनि बन जाता, कर्मयोनि (साधनयोनि) नहीं बनता। भगवान्ने स्वतन्त्रता दी है अपना कल्याण करनेके लिये। परन्तु हम अपना कल्याण न करके उस स्वतन्त्रताको दूसरे कामोंमें लगा देते हैं। इस प्रकार भगवान्से मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग तो हम करते हैं और उलाहना भगवान्को देते हैं कि उन्होंने हमें स्वतन्त्रता क्यों दी! अगर भगवान् स्वतन्त्रता न देते तो हम पुण्य भी नहीं कर सकते। अशुभ काम नहीं कर सकते तो शुभ काम भी नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता मुक्तिके लिये मिली है, बन्धनके लिये नहीं। शिवलिंग पूजा करनेके लिये होता है, पर उससे कोई अपना सिर फोड़ ले तो भगवान् शंकर क्या करें? इसलिये भगवान्ने कृपा करके हमें जो स्वतन्त्रता दी है, उसका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है।

कोई कैसा ही प्राणी क्यों न हो, उसको भगवान्ने मुक्तिका पूरा अवसर दिया है। मनुष्यको भगवान्ने दो चीजें दी हैं—भोगके लिये कर्म-सामग्री और मोक्षके लिये विवेक। कर्म-सामग्रीके साथ विवेक इसलिये दिया है कि मनुष्यको यह जानकारी रहे कि इन कर्मोंसे वह चौरासी लाख योनियोंमें तथा नरकोंमें जायगा, इन कर्मोंसे वह स्वर्गमें जायगा, इन कर्मोंसे वह पुनः मनुष्यजन्ममें आयेगा और इन कर्मोंसे (कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर) वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जायगा। अब इस विवेकका वह सदुपयोग करे या दुरुपयोग करे, इसमें वह स्वतन्त्र है। भगवान्ने मनुष्यको कितनी स्वतन्त्रता दी है कि वह जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़े, उस-उसको ही प्राप्त हो जाता है। यह भगवान्की कितनी उदारता है!

जो दयालु होता है, वह न्यायकारी नहीं हो सकता और जो

न्यायकारी होता है, वह दयालु नहीं हो सकता। न्याय करनेवालेको तो ठीक मर्यादामें चलना पड़ेगा। अगर वह दया करेगा तो ठीक मर्यादामें नहीं चल सकेगा। परन्तु यह अड़चन तभी आती है, जब कानून बनानेवाला निर्दयी हो। भगवान् तो अनन्त दयालु हैं; अतः उनके बनाये हुए कानूनमें न्याय भी है और दया भी! उनकी न्यायकारितामें दयालुता परिपूर्ण है और दयालुतामें न्यायकारिता परिपूर्ण है। जैसे, अन्तकालमें मनुष्य भगवान्का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो वह भगवान्को प्राप्त हो जाता है और कुत्तेका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो कुत्तेकी योनिको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिलती है, उतने ही मूल्यमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—यह भगवान्के न्यायमें भी महान् दया भरी हुई है। जिस स्वतन्त्रतासे नीच योनि मिल जाय, उसी स्वतन्त्रतासे देवादि ऊँची योनि प्राप्त हो जाय, कल्याण हो जाय, मुक्ति हो जाय—यह भगवान्ने कितनी विलक्षण स्वतन्त्रता दी है। जो अन्तकालमें किसीका स्मरण नहीं करता, प्रत्युत केवल ममता और अहंकारका त्याग कर देता है, वह भी निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।* इस प्रकार भगवान्ने कल्याणकी सामग्री देनेमें कोई कमी नहीं

---

* विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७१-७२)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके निर्मम, निरहंकार और निःस्पृह होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है। हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय, तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

रखी है। प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌की दया लबालब भरी हुई है! पुण्यके फल (अनुकूल परिस्थिति)-में भी भगवान्‌की दया है और पापके फल (प्रतिकूल परिस्थिति)-में भी भगवान्‌की कृपा है।[१] अनुकूल परिस्थितिमें साधन करनेमें सहायता मिलती है और प्रतिकूल परिस्थितिमें पापोंका नाश होकर कष्ट सहनेकी सामर्थ्य आती है। चाहे अनुकूल परिस्थिति आये, चाहे प्रतिकूल परिस्थिति आये, हमारा काम तो भगवान्‌के सम्मुख होकर उनका भजन करना है[२] और वह भजन तब होगा, जब हम दृढ़तापूर्वक एक उद्देश्य, लक्ष्य बना लेंगे कि हमें तो भगवान्‌की प्राप्ति ही करनी है। जैसा कि पार्वतीजीने कहा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १।८१।३)

एक भक्त इमलीके वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्‌का भजन कर रहा था। एक दिन वहाँ नारदजी महाराज आ गये। उस भक्तने नारदजीसे कहा कि आप इतनी कृपा करें कि जब भगवान्‌के पास जायँ, तब उनसे पूछ लें कि वे मुझे कब मिलेंगे? नारदजी भगवान्‌के पास गये और पूछा कि अमुक स्थानपर एक भक्त इमलीके वृक्षके नीचे बैठा है और भजन कर रहा है, उसको आप कब मिलेंगे? भगवान्‌ने कहा कि उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद मिलूँगा। ऐसा सुनकर नारदजी उदास हो गये। वे उस भक्तके पास गये, पर उससे कुछ कहा नहीं। भक्तने

१- मनुष्यको कर्मबन्धनसे मुक्त करनेके लिये भगवान् उसके मनके अनुकूल परिस्थिति भेजते हैं तो यह भगवान्‌की 'दया' है और उसके पापोंका नाश करनेके लिये उसके मनके प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं तो यह भगवान्‌की 'कृपा' है।

२- भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे जप, चिन्तन, विचार आदि करना 'भजन' है।

प्रार्थना की कि भगवान्‌ने क्या कहा है, कह तो दो। नारदजी बोले कि तुम सुनोगे तो हताश हो जाओगे। जब भक्तने बहुत आग्रह किया, तब नारदजी बोले कि इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद भगवान्‌की प्राप्ति होगी। भक्तने उत्सुकतासे पूछा कि क्या भगवान्‌ने खुद ऐसा कहा है? नारदजीने कहा कि हाँ, खुद भगवान्‌ने कहा है। यह सुनकर वह भक्त खुशीसे नाचने लगा कि भगवान् मेरेको मिलेंगे, मिलेंगे, मिलेंगे!! क्योंकि भगवान्‌के वचन झूठे नहीं हो सकते। इतनेमें ही भगवान् वहाँ प्रकट हो गये! नारदजीने देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान्‌से बोले कि महाराज! अगर यही बात थी तो मेरी फजीतीं क्यों करायी? आपको जल्दी मिलना था तो मिल जाते। मेरेसे तो कहा कि इतने जन्मोंके बाद मिलूँगा और आप अभी आ गये! भगवान्‌ने कहा कि नारद! जब तुमने इसके विषयमें पूछा था, तब यह जिस चालसे भजन कर रहा था, उस चालसे तो इसको उतने ही जन्म लगते। परन्तु अब तो इसकी चाल ही बदल गयी! यह तो 'भगवान् मेरेको मिलेंगे'—इतनी बातपर ही मस्तीसे नाचने लग गया! इसलिये मुझे अभी ही आना पड़ा। कारण कि उद्देश्यकी सिद्धिमें जो अटल विश्वास, अनन्यता, दृढ़ता, उत्साह होता है, उससे भजन तेज हो जाता है।

एक सन्त थे। वे एक जाटके घर गये। जाटने उनकी बड़ी सेवा की। सन्तने उससे कहा कि रोजाना नामजप करनेका कुछ नियम ले लो। जाटने कहा कि बाबा, हमारेको वक्त नहीं मिलता। सन्तने कहा कि अच्छा, रोजाना एक बार ठाकुरजीकी मूर्तिका दर्शन कर आया करो। जाटने कहा कि मैं तो खेतमें रह जाता हूँ, ठाकुरजीकी मूर्ति गाँवके मन्दिरमें है, कैसे करूँ? सन्तने उसको कई साधन बताये कि वह कुछ-न-कुछ नियम ले

ले, पर वह यही कहता रहा कि मेरेसे यह बनेगा नहीं। मैं खेतमें काम करूँ या माला लेकर जप करूँ! इतना समय मेरे पास कहाँ है? बाल-बच्चोंका पालन-पोषण करना है; तुम्हारे-जैसे बाबाजी थोड़े ही हूँ कि बैठकर भजन करूँ। सन्तने कहा कि अच्छा, तू क्या कर सकता है? जाट बोला कि हमारे पड़ोसमें एक कुम्हार रहता है, उसके साथ मेरी मित्रता है; खेत भी पास-पासमें है और घर भी पास-पासमें है; रोजाना नियमसे एक बार उसको देख लिया करूँगा। सन्तने कहा कि ठीक है, उसको देखे बिना भोजन मत करना। जाटने स्वीकार कर लिया। जब उसकी स्त्री कहती कि रोटी तैयार हो गयी, भोजन कर लो तो वह चट बाड़पर चढ़कर कुम्हारको देख लेता और भोजन कर लेता। इस नियममें वह पक्का रहा।

एक दिन जाटको खेतमें जल्दी जाना था, इसलिये भोजन जल्दी तैयार कर लिया। उसने बाड़पर चढ़कर देखा तो कुम्हार दीखा नहीं। पूछनेपर पता लगा कि वह तो मिट्टी खोदने बाहर गया है! जाट बोला कि कहाँ मर गया, कम-से-कम देख तो लेता। अब जाट उसको देखनेके लिये तेजीसे भागा। उधर कुम्हारको मिट्टी खोदते-खोदते एक हाँडी मिल गयी, जिसमें तरह-तरहके रत्न, अशर्फियाँ भरी हुई थीं। उसके मनमें आया कि कोई देख लेगा तो मुश्किल हो जायगी! अतः वह देखनेके लिये ऊपर चढ़ा तो सामने वह जाट आ गया! कुम्हारको देखते ही जाट वापिस भागा तो कुम्हारने समझा कि उसने वह हाँडी देख ली और अब वह आफत पैदा करेगा। कुम्हारने आवाज लगायी कि अरे, जा मत, जा मत! जाट बोला कि बस, देख लिया, देख लिया! कुम्हार बोला कि अच्छा, देख लिया तो आधा तेरा, आधा मेरा, पर किसीसे कहना मत! जाट वापिस

आया तो उसको धन मिल गया। उसके मनमें विचार आया कि सन्तसे अपना मनचाहा नियम लेनेमें इतनी बात है, अगर सदा उनकी आज्ञाका पालन करूँ तो कितना लाभ है! ऐसा विचार करके वह जाट और उसका मित्र कुम्हार—दोनों ही भगवान्‌के भक्त बन गये।

तात्पर्य यह है कि हम दृढ़तासे अपना एक उद्देश्य बना लें कि चाहे जो हो जाय, हमें तो भगवान्‌की तरफ चलना है, भगवान्‌का भजन करना है। उद्देश्य बनानेकी अपेक्षा भी उद्देश्यको पहचान लें। कारण कि उद्देश्य पहले बना है, मनुष्यजन्म पीछे मिला है। मनुष्यजन्म केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है—इस उद्देश्यको पहचान लें, सन्देहरहित मान लें तो फिर भजन अपने-आप होगा।

हम बद्रीनारायण जाते हैं तो रास्तेमें बढ़िया-से-बढ़िया जगह आ जाय तो भी वहाँ ज्यादा नहीं टिकते और घटिया-से-घटिया जगह आ जाय तो भी जाना बन्द नहीं करते, हमारी चाल वैसी ही रहती है। खराब-से-खराब रास्ता आ जाय, चढ़ाई आ जाय, तेज धूप पड़ने लगे, पसीना आने लगे, तो भी हम चलते रहते हैं और आगे बढ़िया रास्ता आ जाय, जंगलसे पुष्पोंकी सुगन्ध आने लगे, बादलोंकी छाया हो जाय, ठण्डी हवा चलने लगे, तो भी हम चलते रहते हैं। ऐसा मनमें नहीं आता कि अच्छी जगह है, पुष्पोंकी सुगन्ध आ रही है; अतः यहीं आसन लगा लें। कारण कि यह हमारा उद्देश्य नहीं है। जगह अच्छी हो या गन्दी, ये सब तो मार्गकी बातें हैं; हमें तो बद्रीनारायण जाना है। ऐसे ही परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल, ये तो मार्गकी बातें हैं; हमें तो भगवान्‌की प्राप्ति करनी है। कैसी ही परिस्थिति क्यों न आये, हमारे भजनमें कमी नहीं आनी चाहिये। अगर इस प्रकार

हमारा उद्देश्य दृढ़ रहे तो उसकी सिद्धि भगवान्‌की कृपासे शीघ्र हो जायगी। सिद्धि करनेमें हमारेको जोर नहीं पड़ेगा। भगवान्‌ने अपनी ओरसे कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। जैसे बछड़ा एक स्तनसे ही दूध पीता है, पर भगवान्‌ने गायको चार स्तन दिये हैं । ऐसे ही भगवान् चारों तरफसे हमारेपर कृपा कर रहे हैं! हमें तो निमित्तमात्र बनना है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

(गीता ११।३३)

'ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।' तथा—

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

(गीता ११।३४)

'मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मारो। तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो। युद्धमें तुम निःसन्देह वैरियोंको जीतोगे।'

अर्जुनके सामने युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। ऐसे ही हमारे सामने साधन है; अतः हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी। संसारमें राग, आसक्ति, कामना न करें, सावधान रहें, यही निमित्तमात्र बनना है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं, ऐसे ही ये राग आदि भी पहलेसे ही मारे हुए हैं, सत्तारहित हैं। इनको हमने ही सत्ता दी है। संसार नित्यनिवृत्त है—'**नासतो विद्यते भावः**' और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं—'**नाभावो विद्यते सतः**'। नित्यनिवृत्तिकी ही निवृत्ति करनी है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति करनी है।

॥ श्रीहरि: ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)
1675	सागरके मोती
1598	सत्संगके फूल
1633	एक संतकी वसीयत
400	कल्याण-पथ
401	मानसमें नाम-वन्दना
605	जित देखूँ तित तू
406	भगवत्प्राप्ति सहज है
535	सुन्दर समाजका निर्माण
1485	ज्ञानके दीप जले
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल
403	जीवनका कर्तव्य
436	कल्याणकारी प्रवचन
405	नित्ययोगकी प्राप्ति
1093	आदर्श कहानियाँ
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
408	भगवान्से अपनापन
861	सत्संग-मुक्ताहार
860	मुक्तिमें सबका अधिकार
409	वास्तविक सुख
1308	प्रेरक कहानियाँ
1408	सब साधनोंका सार
411	साधन और साध्य
412	तात्त्विक प्रवचन
414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
410	जीवनोपयोगी प्रवचन
822	अमृत-बिन्दु
821	किसान और गाय
417	भगवन्नाम
416	जीवनका सत्य
418	साधकोंके प्रति
419	सत्संगकी विलक्षणता
545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
420	मातृशक्तिका घोर अपमान
421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
422	कर्मरहस्य
424	वासुदेवः सर्वम्
425	अच्छे बनो
426	सत्संगका प्रसाद
1733	संत-समागम
1019	सत्यकी खोज
1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण
1360	तू-ही-तू
1434	एक नयी बात
1440	परम पितासे प्रार्थना
1441	संसारका असर कैसे छूटे?
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......
431	स्वाधीन कैसे बनें?
702	यह विकास है या...
589	भगवान् और उनकी भक्ति
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम
434	शरणागति
770	अमरताकी ओर
432	एकै साधे सब सधै
427	गृहस्थमें कैसे रहें?

कोड	पुस्तक
433	सहज साधना
444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
435	आवश्यक शिक्षा
1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
438	दुर्गतिसे बचो
439	महापापसे बचो
440	सच्चा गुरु कौन?
729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
745	भगवत्तत्त्व
632	सब जग ईश्वररूप है
447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य
207	रामस्तवराज—(सटीक)
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र
231	रामरक्षास्तोत्रम्
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्
054	भजन-संग्रह
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
142	चेतावनी-पद-संग्रह
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
1214	मानस-स्तुति-संग्रह
1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
208	सीतारामभजन